

GOVERNMENT OF INDIA
ARCHAEOLOGICAL SURVEY OF INDIA

CENTRAL
ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO 53761

CALL No. 927.8207054/Sha

D.G.A. 79



Āchārya Bharata

Shrībhagavata Shāstra

Madhya Pradesh Hindi Grantha
Academy,

Bhopal, 1971

आचार्य भरत

डा० शिवशरण शर्मा

एम. ए. [संस्कृत-हिन्दी] बी. फिल., पास्त्रो, एल-एल. बी.

53761



927.8207.954

3/10



मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

प्रकाशक :

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,

भोपाल

© मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

प्रथम संस्करण—१९७१

मूल्य : दस रुपये

CENTRAL ANTHROPOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No 53761

Date 17-5-74

Call No. 927.82070954/Sha

मुद्रक :

विजय प्रिन्टर्स,

२४, नमकमण्डी, उज्जैन (म. प्र.)

प्राक्कथन

इस बात पर सभी शिक्षा-शास्त्री एक मत हैं कि मातृभाषा के माध्यम से दी गयी शिक्षा छात्रों के सर्वांगीण विकास एवं मौलिक चिन्तन की अभिवृद्धि में अधिक सहायक होती है। इसी कारण स्वातन्त्र्य आन्दोलन के समय एवं उसके पूर्व से ही स्वामी श्रद्धानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी जैसे देशमान्य नेताओं ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने की दृष्टि से आदर्श शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित कीं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी देश में शिक्षा सम्बन्धी जो कमिशन या समितियाँ नियुक्त की गयीं, उन्होंने एक मत से इस सिद्धान्त का अनुमोदन किया।

इस दिशा में सबसे बड़ी बाधा थी—श्रेष्ठ पाठ्य-ग्रन्थों का अभाव। हम सब जानते हैं कि न केवल विज्ञान और तकनीकी, अपितु मानविकी के क्षेत्र में भी विश्व में इतनी तीव्रता से नये अनुसन्धानों और चिन्तनों का आगमन हो रहा है कि यदि उसे ठीक ढंग से गृहीत न किया गया तो मातृभाषा से शिक्षा पाने वाले अल्पवर्गों के पिछड़ जाने की आशंका है। भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने इस बात का अनुभव किया और भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में विश्वविद्यालयीन स्तर पर उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थ तैयार करने के लिए समुचित आर्थिक दायित्व स्वीकार किया। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय की यह योजना उसके शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य अकादमियों द्वारा कार्यान्वित की जा रही है। मध्यप्रदेश में हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी है।

अकादमी विश्वविद्यालयीन स्तर की मौलिक पुस्तकों के निर्माण के साथ, विश्व की विभिन्न भाषाओं में बिल्टरे हुए ज्ञान को हिन्दी के माध्यम से प्राध्या-

पकों एवं विद्यार्थियों को उपलब्ध करेगी। इस योजना के साथ राज्य के सभी महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय सम्बद्ध हैं। मेरा विश्वास है कि सभी शिक्षा शास्त्री एवं शिक्षा-प्रेमी इस योजना को प्रोत्साहित करेंगे। प्राध्यापकों से मेरा अनुरोध है कि वे अकादमी के ग्रन्थों को छात्रों तक पहुँचाने में हमें सहयोग प्रदान करें, जिससे बिना और बिलम्ब के विश्वविद्यालयों में सभी विषयों के शिक्षण का माध्यम हिन्दी बन सके।

जगदीश नारायण अवस्थी

शिक्षामन्त्री,

अध्यक्ष:

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भोपाल

प्रस्तावना

भारतीय काव्य-शास्त्र के निर्माता आचार्यों के सम्बन्ध में अकादमी द्वारा प्रकाशित की जाने वाली समीक्षामाला का अत्यन्त सुरमित एवं रागरञ्जित कुसुम है "आचार्य भरत" ।

आचार्य भरत का नाम भारतीय नाट्य-शास्त्र के आदि प्रणेता के रूप में लोक-विश्रुत है । वे न केवल नाट्य और रंगमंच के आदि आचार्य हैं, प्रसृत काव्य-शास्त्र के भी प्रथम आम्नायकार हैं । भारत में काव्य-शास्त्रीय चिन्तन का प्रारम्भ नाट्यशास्त्र में प्राप्त होने वाले ऐतद्विषयक विवेचन से ही माना जाता है । परवर्ती समग्र आचार्यों-भामह, वामन, दण्डी आदि-ने उनसे प्रेरणा ग्रहण की । परवर्ती काव्य-शास्त्र-विवेचन अनेक मौलिक उद्भावनाओं एवं निष्कर्षों के प्रस्तुतीकरण के पश्चात् भी बिना नाट्य-शास्त्र को उपजीव्य बनाये आगे नहीं बढ़ सका । वस्तुतः भरत का निरूपण शताब्दियों के चिन्तन से छन-छन कर आया था । यह बहु-प्रज्ञामन्वित विचारों का परिणाम था । भारत में काव्य-शास्त्र और नाट्य-शास्त्र एक दूसरे से इतने अधिक निकट रहे हैं कि उन्हें एक दूसरे से सर्वथा अलग करके समझना कठिन है । यहाँ नाटककारों को भी कवि कहकर सम्बोधित करने की परम्परा रही है और अनेक बार काव्य में नाट्य-कृतियों को भी अन्तर्भूत कर लिया गया है । यद्यपि संस्कृत नाटकों की रचना विशेष उत्सवों पर अभिनय के लिए ही होती थी और शायद ही कोई

ऐसा रूपक होगा जिसका मंच पर प्रयोग न हुआ हो तो भी उनमें से अनेकों के विषय में यह निर्णय कर सकना कठिन है कि उनमें काव्य अधिक है या नाट्य। नाट्य के स्वतन्त्र मानदण्डों के रहते हुए भी उनका समीक्षण काफी दूर तक काव्य के मापदण्ड से किया जाता था। दोनों का ही लक्ष्य पाठक और श्रोता को रसास्वादन कराना था। फलतः दोनों की समस्याएँ बहुत कुछ समान भी थीं। इसलिए स्वभाविक था कि भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य के तत्वों पर विचार किया जाता। उनका 'रस-निष्पत्ति' सिद्धान्त तो भारतीय दर्शन के ब्रह्मवाद के समान अखण्ड एवं शाश्वत बन गया है। वह आज भी उसी प्रकार नवीन है जिस प्रकार भरत और उनके पूर्ववर्ती काल में थी।

आचार्य भरत की देन बहुमुखी है। काव्य-शास्त्र के अतिरिक्त रंगमंच नृत्य, संगीत, वेशभूषा अभिनय और भाषा आदि पर भी उन्होंने गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है नाट्य-शास्त्र में स्थापित परम्परा भरत से भी लगभग एक हजार वर्ष पूर्व से चली आती हुई चिन्तन परम्परा का परिणाम है। भरत व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। व्यास और चरक के समान यह भी आत्मा-विशेष के आचार्यों की उपाधि है। यह एक चिन्तन शाखा है जिसकी समस्त साधना का पुञ्जीभूत सार नाट्यशास्त्र में संकलित है। भरत से पूर्व निश्चित ही नाट्य की गई शाखाएँ और उनके कई सूत्र-ग्रन्थ प्रचलित थे जिनका स्रोत ऋग्वेद के पुरुषा-उर्वशी, यम-यमी एवं सरमा-यणि संवादों एवं कृत्यों के अन्त में सम्पादित किये जाने वाले ब्रह्मोद्यो में देखा जा सकता है। इसलिए न केवल भारतीय काव्य शास्त्र एवं नाट्य शास्त्र को समझने, अपितु आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व के जन-जीवन एवं उसकी सांस्कृतिक धाती का परिचय पाने के लिये भी आचार्य भरत के नाम से विख्यात नाट्य-शास्त्र का अनुशीलन आवश्यक है। साहित्य-शास्त्र का कोई भी विद्यार्थी चाहे वह किसी भी भारतीय भाषा का हो बिना भरत का सम्यक् अनुशीलन किये विषय का अधिकारी नहीं माना जा सकता।

सौभाग्यवश अब नाट्यशास्त्र के प्रामाणिक संस्करण भी उपलब्ध हैं और विद्वानों का ध्यान इसके सर्वांगीण अध्ययन की ओर गया है। कुछ विश्व-विद्यालयों में नाट्यशास्त्र का कोई न कोई भाग पाठ्यक्रम में भी सम्मिलित है। कई जगह इस पर शोध कार्य भी हो रहा है ये भी एक संयोग की बात है कि

दर्शन के समान भारतीय काव्यशास्त्र के भी आम्नाय-ग्रन्थ अत्यन्त सरल एवं सुबोध शैली में लिखे गये हैं। मेरे अनुरोध पर डा० शिवशरण शर्मा ने आचार्य भरत का गम्भीर अध्ययन कर प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया है। डा० शर्मा हिन्दी और संस्कृत दोनों विषयों में डाक्टर होने के साथ-साथ साहित्याचार्य भी है और संस्कृत के मधुर कवि भी। प्रस्तुत कृति में उनका प्रतिपादन भरत के समान ही सुस्पष्ट एवं रुचिकर है। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत कृति से साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में एक अभाव की पूर्ति होगी।

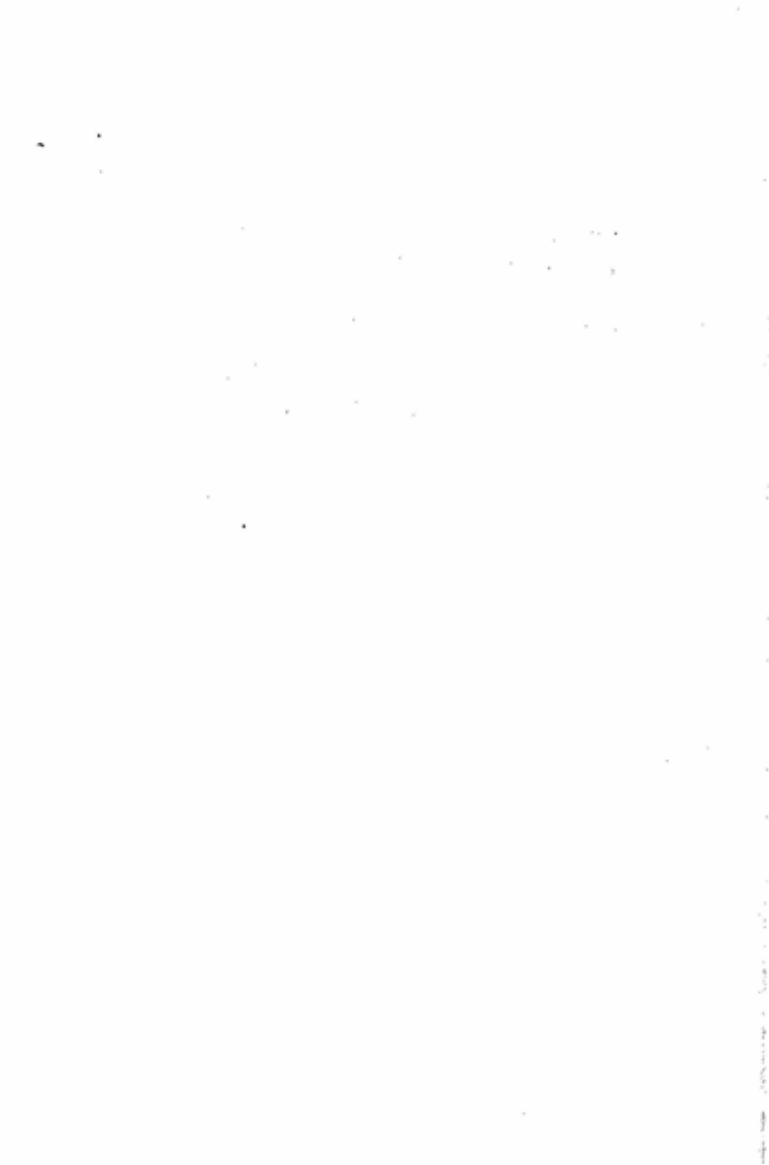
प्रभु रामलाल शर्मा

भोपाल

१५ अगस्त, १९७१

संचालक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल



भूमिका

नाट्याचार्य भरत का नाट्यशास्त्र बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत इस ग्रन्थ को वैसा ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, जैसा व्याकरण-शास्त्र के अन्तर्गत पाणिनी की अष्टाध्यायी को। नाट्यविद्या का तो यह विश्व-कोष ही है। इस विद्या का जितना सर्वाङ्गीण तथा विशद विवेचन इस अकेले ग्रन्थ में हुआ है, उतना विश्व के किसी भी एक ग्रन्थ में नहीं मिलता। नाट्य विद्याके साथ ही इसमें अन्य भी अनेक विद्याओं, कलाओं, शिल्पों, व्यवहारों आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। नाट्यशास्त्र में वर्णित अनेकों विद्याओं तथा कलाओं की परम्परा के कालान्तर में विच्छिन्न हो जाने के कारण, आज उन्हें समझने में बड़ी कठिनाई होती है। उसका केवल साहित्य सम्बन्धी विवेचन ही ऐसा है, जिसकी परम्परा आज तक प्रायः बनी हुई है, यद्यपि वह भी नाट्य के सम्दर्भ में न होकर केवल काव्य के ही सन्दर्भ में प्राप्त होती है। अस्तु, आपेक्षिक रूप से उसका समझना कुछ सरल है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में वर्णित नृत्त, गीत, वाद्य अभिनय, तथा शिल्प आदि से सम्बन्धित अनेक विषय आज दुरूह ही बन गये हैं। इन सबके समझने में जो भी कुछ सीमित सहायता मिलती है, वह केवल नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्त द्वारा लिखित 'अभिनव-भारती' नामक व्याख्या से ही मिलती है। अन्य कोई भी तत्कालीन ग्रन्थ ऐसा नहीं मिलता, जिससे इन्हें समझा जा सके।

प्रतीत होता है कि मध्य-युग में नाट्यकला ह्रासोन्मुख हो गई और धीरे-धीरे नाट्यशालाओं का भी अभाव हो गया। इस प्रकार नाट्य-प्रयोगों के मन्द अथवा बन्द पड़ जाने के कारण उनसे सम्बन्धित अभिनयादि विषय भी विद्वानों की चर्चा के विषय न रह सके। फलतः परवर्ती काव्यशास्त्र में नाट्य का विवेचन प्रायः बन्द हो हो गया। यदि आचार्य विश्वनाथ जैसे कुछ विद्वानों ने नाट्य की चर्चा की भी, तो अति संक्षिप्त रूप में ही। यहाँ तक कि जो ग्रन्थ केवल नाट्यशास्त्र के ही ऊपर रचे गये, उनमें भी नाट्य का सर्वाङ्गीण विवेचन

नहीं हो पाया। आज नाट्यशास्त्र के अनेकों विषयों के दुसूह होने का यही कारण है।

हर्ष का विषय है कि उन्नीसवीं शताब्दी से विद्वानों ने इस ग्रन्थ-रत्न के ऊपर पुनः ध्यान देना आरम्भ किया है। इस दिशा में श्री रामकृष्ण कवि, श्री मनमोहन घोष, आचार्य विश्वेश्वर, तथा डॉ० रघुवंश आदि के प्रयास सराहनीय हैं। यदि आधुनिक विद्वान इस दिशा में बराबर सचेष्ट रहें, तो नाट्यशास्त्र के उद्धार के साथ-साथ भारतीय नाट्यकला का विकास भी सम्भव है।

सेय की बात है कि अभी तक हिन्दी में भरत मुनि और उनके नाट्यशास्त्र का सर्वांगीण परिचय दे सकने वाला प्रायः कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। हिन्दी में तो अभी तक इस पूरे ग्रन्थ का अनुवाद भी नहीं हो सका। अभी तक डॉ० रघुवंश द्वारा किया हुआ, इसके केवल प्रथम सात अध्यायों का ही हिन्दी-अनुवाद उपलब्ध है। इस भाँति इस ग्रन्थ का लगभग तीन चौथाई भाग हिन्दी पाठकों के लिये अनुपलब्ध-सा ही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को तेरह परिच्छेदों में विभक्त करके उनके अन्तर्गत नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रायः सभी विषयों का संक्षिप्त एवं समालोचनात्मक विवरण देने का प्रयास किया गया है। यहाँ नाट्यरचना-सम्बन्धी विषयों की अपेक्षा नाट्य प्रयोग सम्बन्धी विषयों पर कुछ अधिक लिखने का प्रयास किया गया है, कारण कि नाट्यशास्त्र के रचना सम्बन्धी विषयों का परिचय तो दशरूपक आदि ग्रन्थों से भी मिल जाता है, परन्तु प्रयोग-सम्बन्धी विषय प्रायः अपरिचित-से ही रह जाते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र से जो उद्धरण दिये गए हैं, वे श्री मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित १९६७ ई. के संस्करण से लिए गए हैं। यद्यपि अनेक स्थलों पर इस संस्करण का पाठ भी निर्दोष नहीं प्रतीत होता और इसकी अपेक्षा आचार्य विश्वेश्वर द्वारा सम्पादित पाठ अधिक शुद्ध संगत है तथापि पूर्ण क्लेश-वश में उपलब्ध संस्करणों में श्री घोष की प्रति ही अधिक उपयोगी प्रतीत हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना करने में सर्व श्री रामकृष्ण कवि, मनमोहन घोष,

आचार्य विश्वेश्वर तथा डा० रघुवंश द्वारा सम्पादित नाट्यशास्त्र के संस्करणों का उपयोग किया गया है। साथ ही श्री पी. बी. काणे-कृत 'संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक', आद्य रंगाचार्य-कृत 'इण्डोइकेशन टु भरताज नाट्यशास्त्र', श्री. आर. मनकद-कृत 'ऐन्सियेण्ट इण्डियन थिएटर', तथा काव्यशास्त्र और उसके इतिहास का विवेचन करने वाले अन्यान्य ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है। एतदर्थ यह लेखक उक्त सभी ग्रन्थों के लेखकों का कृतज्ञ है। साथ ही वह सर्वाधिक आभारी डा० प्रभुदयालु जी अग्निहोत्री का है, जिनकी प्रेरणा से वह इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ है।

यदि राष्ट्रभाषा के पाठक इस कृति से रचमात्र भी लाभान्वित हो सके, तो प्रस्तुत लेखक अपने को कृतकार्य ही समझेगा।

दत्तिया, म. प्र
रामनवमी सं. २०२८ वि.

विनीत
शिबसरण शर्मा

विषय-सूची

	पृष्ठ
प्राक्कथन	अ-ब
प्रस्तावना	स-ई
भूमिका	१-३
१. भरत मुनि	५-१२
२. नाट्य-शास्त्र का सामान्य परिचय	१३-४३
३. नाट्य उसकी उत्पत्ति तथा प्रयोजन	४५-५४
४. नाट्यगृह	५५-८७
५. दशरूप-विधान	८९-१००
६. कथावस्तु	१०१-१०८
७. पात्र	१०९-१२३
८. रस तथा भाव	१२५-१४८
९. पूर्वरेङ्ग	१४९-१५२
१०. अभिनय	१५३-१७३
११. वृत्ति, प्रवृत्ति तथा नाट्यधर्म	१७५-१८२
१२. गीत, वाद्य तथा नृत्त	१८३-१८९
१३. नाट्य की सफलता तथा विफलता	१९१-१९६

भरत मुनि

स्वयं नाट्यशास्त्र तथा अन्य भी कई ग्रन्थों में भरत मुनि को नाट्यशास्त्र का रचयिता माना गया है। इन ग्रन्थों में मत्स्यपुराण^१, अग्निपुराण^२, कालिदास कृत विक्रमोर्वशीय^३, तथा भवभूति-कृत उत्तररामचरित^४ आदि हैं। इस प्रकार सामान्यतः भरत मुनि ही नाट्यशास्त्र के रचयिता माने जाते हैं।

नाट्यशास्त्रोक्त भरत—नाट्यशास्त्र में भरत मुनि का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे उनका व्यक्तित्व कुछ पौराणिक जैसा लगता है। यहाँ वे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, नारद तथा इन्द्र आदि देवताओं के समकालीन कहे गये हैं। यहाँ उन्हें देवता न मानकर मुनि अथवा ऋषि कहा गया है^५। उनको ब्रह्मा द्वारा सृष्ट नाट्यवेद का ज्ञाता तथा प्रयोक्ता कहा गया है। उन्होंने ही ऋषियों के प्रश्नों के उत्तर-रूप में नाट्यशास्त्र के विभिन्न विषयों का कथन किया है। यहाँ पर उनके शाण्डिल्य, वाल्म्य, कोहल तथा दत्तिल आदि, सौ पुत्रों का भी उल्लेख मिलता है, जिन्हें भरत ने नाट्य-प्रयोग के हेतु शिक्षित किया था। नाट्यशास्त्र से ज्ञात होता है, कि उसके रचयिता भरत, नाट्यशास्त्री, प्रयोक्ता तथा अभिनेता सभी थे। नाट्यकला में तो वे पारंगत ही थे, साथ ही अन्य अनेक कलाओं एवं शिल्पादि का उन्हें ज्ञान था। वे जनहित का ध्यान रखने वाले एक क्रियात्मक पुरुष थे। नाट्यशास्त्र के लेखक के रूप में उनकी प्रतिभा अति विस्तार प्रतीत होती है। नाट्यशास्त्र में इससे अधिक उनका वैयक्तिक परिचय प्रायः नहीं मिलता।

१-बृहस्पति-भरत का संगीत-सिद्धान्त पृ० ३६

२-अग्निपुराण ३३९-६

३-विक्रमो० २-१८

४-उत्तर० चतुर्थ अंक

५-षोड-नाट्यशास्त्र १-२३, २४

भरत नामधारी व्यक्ति—भारतीय साहित्य में भरत नामधारी कई व्यक्ति प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक तो दशरथजी के पुत्र तथा श्री रामचन्द्रजी के छोटे भाई हैं। दूसरे दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र भरत हैं। तीसरे ऋषभ देव के पुत्र भरत हैं। ये सभी भरत क्षत्रिय राजकुमार हैं। अस्तु इनमें से किसी की भी अभिन्नता नाट्याचार्य भरत से नहीं सिद्ध होती। एक चौथे भरत जड़ भरत नामधारी भी हुए हैं, जो विरक्त अवधूत थे। अस्तु उनका भी सम्बन्ध नाट्यशास्त्र से नहीं जुड़ता। इस प्रकार नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित भरत मुनि उक्त भरत नामधारी व्यक्तियों से अलग ही प्रतीत होते हैं।

नाट्यशास्त्र का रचयिता—भारतीय ग्रन्थों तथा परम्पराओं के अनुसार तो नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि ही माने जाते हैं, परन्तु कुछ विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते। ऐसे लोगों का कहना है, कि नाट्यशास्त्र में सूत्र, भाष्य, तथा कारिका आदि पाठ-स्तरों, तथा रस-विवेचनादि प्राचीन एवं छन्द-विवेचन आदि नवीन वर्णनों के मिलने से यह एक हाथ की रचना नहीं प्रतीत होती। अस्तु इसके रचयिता के रूप में उल्लिखित भरत कोई एक व्यक्ति नहीं है। इनके अनुसार भरत एक जातिवाचक शब्द है। अमरकोशादि ग्रन्थों में नट, कुञ्जीलव, तथा भरत समानार्थक शब्द माने गये हैं। अस्तु भरत का अर्थ नट या अभिनेता है। नटों से ही सम्बन्धित होने के कारण ग्रन्थ का नाम नाट्यशास्त्र है, और उसके रचयिता भरत अर्थात् विभिन्न नट लोग हैं। ऐसे लोगों का यह भी कथन है, कि जैसे पुराणों के रचयिता व्यास कोई एक व्यक्ति न होकर व्यासोपाधिधारी अनेकों व्यक्ति हैं, उसी प्रकार नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत कोई एक व्यक्ति न होकर अनेकों भरत होंगे।

भरत शब्द के विषय में कुछ लोगों का यह भी कथन है^१ कि प्रारम्भ में भरतवंश की वीरता का गान करने वाले लोग ही भरत कहलाते रहे होंगे। ये लोग भारत (महाभारत) की गीतियों का गान करते रहे होंगे। संभवतः इस कारण ही ये लोग भरत कहलाने लगे होंगे। इसके प्रमाण में कहा जाता है कि जैसे भरवरी (भर्तृहरि) का चरित्रगान करने वाले स्वयमेव भरवरी के नाम से पुकारे जाते हैं, उसी प्रकार भरतवंश का गान करने वाले भी भरत कहलाने

लगे होंगे। इन लोगों का यह भी कथन है कि इन नीतियों ने ही रूपकों को जन्म दिया होगा, और इस प्रकार भरत शब्द अभिनेताओं के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा होगा। इस प्रकार भरत किसी व्यक्ति-विशेष का नाम न होकर एक जाति-वाचक शब्द ही है।

स्वयं नाट्यशास्त्र में भी भरत शब्द का प्रयोग अभिनेताओं तथा नाट्य-मण्डली के नेता के रूप में हुआ है^१। अस्तु यहाँ भी उसका प्रयोग जाति-वाचक रूप में मिलता है। भरत शब्द का अर्थ बताते हुए यहाँ कहा गया है, कि चूँकि यह अनेकों प्रकार की भूमिकाएँ ग्रहणकर तथा विविध वाद्यों के बजाने के द्वारा धुरी के समान नाट्य को धारण करता है, इसलिये इसे भरत कहा जाता है^२। इससे यह सन्देह और दृढ़ हो जाता है कि भरत नाम का कोई व्यक्ति-विशेष या अथवा नहीं।

इसी प्रकार के सन्देहों के कारण श्री काणे महोदय भी नाट्यशास्त्र को किसी एक भरत-विशेष की रचना नहीं मानते। उनके अनुसार परंपरागत नाट्यकला के किसी अच्छे ज्ञाता ने वर्तमान नाट्यशास्त्र के अधिकांश का संग्रह करके उसे भरत की रचना बता दी होगी। यह संग्राहक भरतों अर्थात् अभिनेताओं का प्रेमी रहा होगा। अतएव उन्हें सम्मानित करने हेतु उसने ग्रन्थकार का नाम भरत मुनि कर दिया होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र को अनेक लोगों की रचना मानने का मत अभिनव गुप्त से पूर्व भी प्रचलित था। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय के प्रथम छः श्लोकों में भरत मुनि का नाम अन्य पुरुष के रूप में आता है। उदाहरणार्थ—

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।

प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदक्यां प्रति ॥ १-६

स्पष्ट है कि भरत का प्रयोग यहाँ अन्य पुरुष के रूप में है। अस्तु कुछ लोगों ने

१-घोष, नाट्यशास्त्र १४-६५ तथा ३५-८८ से ९१

२-घोष, नाट्यशास्त्र ३५-९१

ऐसी आशंका की है, कि कम से कम यह अंश भरत की रचना नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकार अपने को अन्य पुरुष के रूप में नहीं लिख सकता। अभिनव ने उक्त श्लोक की व्याख्या में इसका उत्तर देते हुये कहा है, कि ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। कारण कि अनेकों ग्रन्थकार अपने विषय में उत्तम पुरुष का प्रयोग न करके अन्य पुरुष का प्रयोग करते हैं। अस्तु इसे तो एक शैली-विशेष समझना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये, कि नाट्यशास्त्र का कुछ भाग भरत-रचित होगा, और कुछ उनके शिष्यों आदि के द्वारा बढ़ाया हुआ। अभिनव-भारती से ही ज्ञात होता है कि कुछ लोग, जिन्हें अभिनव "नास्तिक धुर्य" कहते हैं, नाट्यशास्त्र को किसी एक लेखक की रचना न मानकर उसे एक संग्रह-ग्रन्थ मानते थे। अभिनव ने इस कथन को स्वीकार नहीं किया, वरन् भरत मुनि को ही नाट्यशास्त्र का रचयिता माना है।

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ भावप्रकाशन^१ में नाट्यशास्त्र की दो पाठ-परम्पराएँ मानी हैं। इनमें से एक पाठ तो बारह सहस्र श्लोकों का तथा दूसरा छःसहस्र श्लोकों का कहा गया है। साथ ही द्वादश सहस्र वाले पाठ को बृद्ध भरत अथवा आदि भरत की, तथा छः सहस्र वाले को भरत की रचना कहा गया है। शाकुन्तल के टीकाकार राघव भट्ट ने अपनी टीका में इन दोनों से ही कुछ उद्धरण भी दिये हैं। इससे स्पष्ट है कि दशवीं शताब्दी तक ये दोनों पाठ अलग-अलग स्वीकृत किये जा चुके थे। श्री रामकृष्ण कवि आदि विद्वानों ने बारह सहस्र वाले पाठ को अधिक प्राचीन माना है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि मूल नाट्यशास्त्र के रचयिता बृद्ध या आदि भरत थे, और वर्तमान नाट्यशास्त्र के रचयिता कोई परवर्ती भरत थे। इस विषय में एक बात और उल्लेखनीय है कि बृद्ध भरत के नाम से आज जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः वर्तमान नाट्यशास्त्र के ही पाठ से मिलते जुलते हैं। अस्तु उपर्युक्त कथनों से कोई निष्कर्ष निकालना कठिन ही लगता है।

जैसा कि आगे लिखा जायगा, वर्तमान नाट्यशास्त्र में पर्याप्त प्रक्षेप और पाठभेद दृष्टिगत होते हैं। अस्तु वह न तो एक ही काल की और न एक

व्यक्ति की ही रचना प्रतीत होती है। प्रतीत होता है कि उसके दो-तीन संस्कार तो हुए ही हैं। साथ ही वर्तमान नाट्यशास्त्र के मूल अथवा परवर्ती सभी रचयिताओं के साथ किसी न किसी रूप में भरत शब्द अवश्य जुड़ा हुआ है। यह प्रश्न अलग है कि वह व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में जुड़ा है, या अभिनेता के रूप में; अथवा भरत वंश के नायकों के रूप में जुड़ा है, या नाट्यमण्डली के नेता के रूप में। आज तक उसके रचयिता अथवा रचयिताओं के लिये किसी अन्य नाम का उल्लेख न होकर भरत का ही उल्लेख बराबर होता आया है। अस्तु यह बात मान लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं प्रतीत होती, कि इसके रचयिता भरत ही थे। यद्यपि इन प्रश्नों का समाधान करना कुछ कठिन ही है कि वे कौन थे, कैसे थे, तथा किस काल में थे, परन्तु मौलिक भाग के रचयिता भरत के विषय में यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है, कि वे ईसा-पूर्व होने वाले भास तथा कौटिल्य से भी पूर्ववर्ती रहे होंगे, जैसा कि आगे नाट्यशास्त्र के रचना-काल के विवेचन में अनुमानित किया गया है। साथ ही जब तक कोई पुष्ट विरोधी प्रमाण नहीं मिल जाता, तब तक स्वयं नाट्यशास्त्र तथा अन्य अनेक ग्रन्थों के अनुसार नाट्यशास्त्र के मौलिक रचयिता को भरत नामक व्यक्ति ही मानना अधिक उचित प्रतीत होता है, जो कि भारतीय मान्यता के अनुसार मुनि या ऋषि रहे होंगे।

नन्दी और कोहल

कुछ लोग वर्तमान नाट्यशास्त्र के रचयिताओं में भरत के साथ नन्दी और कोहल का भी नामोल्लेख करते हैं। नाट्यशास्त्र की कुछ पाण्डुलिपियों के अन्तिम अध्याय के अन्त में दी हुई पुष्पिका में "इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे समाप्तोऽयं नन्दिभरतसंगीत-पुस्तकम्" इस प्रकार लिखा मिलता है। इससे भरत के साथ ही नन्दी के भी नाट्यशास्त्र का रचयिता होने का अनुमान किया गया है। "इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे" यह वाक्य तो नाट्यशास्त्र के प्रत्येक अध्याय के अन्त में आता है, परन्तु यहाँ 'समाप्तोऽयं नन्दिभरतसंगीत-पुस्तकम्' इतना पाठ अधिक मिलता है। यह पाठ अशुद्ध भी है, और बहु-संख्यक पाण्डुलिपियों में मिलता भी नहीं है। अस्तु इसके आधार पर ही नन्दी को नाट्यशास्त्र का सह-लेखक मानना कम उचित प्रतीत होता है। अभिनव-भारती व्याख्या के अनुसार नाट्यशास्त्र में उल्लिखित तण्डु, नन्दी का ही दूसरा नाम

है, जो भरत के नृत्तोपदेशक कहे गये हैं^१। अस्तु कन्हैयालाल पोद्दार का अनुमान है कि इसमें प्रयुक्त 'नन्दि भरत' शब्द का अर्थ नन्दी और भरत का यह न होकर नन्दिशिष्य भरत ऐसा भी हो सकता है, जो नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत को अन्य भरतों से अलग करने हेतु प्रयुक्त हो सकता है। वैसे श्री पोद्दार के अनुसार अधिक संभावना इसी बात की है कि यह अशुद्ध पाठ प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक होगा।

नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में भरत मुनि ऋषियों से कहते हैं, कि नाट्य-सम्बन्धी इतना भाग तो मुझे ब्रह्मा ने बताया था, जिसे मैंने आपको सुनाया। इसके अवशिष्ट भाग को कोहल बतावेंगे।

शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति ॥ ३६-६६

इससे कुछ लोग नाट्यशास्त्र के अवशिष्ट भाग का रचयिता कोहल को मानते हैं, और अनुमान करते हैं कि हो सकता है, वह भाग भी वर्तमान नाट्यशास्त्र में सम्मिलित हो। यह तो संभव हो सकता है, कि कोहल ने भी नाट्य-संबन्धी कोई ग्रन्थ रचा हो, परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं होता। हाँ, अभिनव-भारती व्याख्या में कोहल के नाम से उद्धृत किये गये कुछ श्लोक अवश्य मिलते हैं। इससे उनके द्वारा रचित किसी स्वतंत्र ग्रन्थ का अनुमान होता है, जो वर्तमान नाट्यशास्त्र से भिन्न ही प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त अभिनव ने नाट्यशास्त्र की व्याख्या में उसके कई मतों को कोहल-मतानुसारी कहा है। उदाहरणार्थ, उन्होंने प्रथम अध्याय के अन्तर्गत नान्दी की व्याख्या करते हुये भरतोक्त नान्दी को कोहल के अनुसार कहा है। इसी प्रकार छठवें अध्याय में नाट्यशास्त्र ब्यारह नाट्यांगों का विवरण इस प्रकार देता है—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्तिः प्रवृत्तयः ।

सिद्धिः स्वरास्तपातोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः ॥ ६-१०

इसकी व्याख्या करते हुये अभिनव कहते हैं—

अभिनयत्रयं गीतातोषे चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम् ।

अनेन तु श्लोकेन कोहलादि मतेन एकादशाङ्गत्वमुच्यते ॥

अर्थात् भरत के अनुसार तो नाट्य के अंग पाँच ही हैं। नाट्यशास्त्र के इस श्लोक में नाट्य के जो एकादश अंग कहे गये हैं, वे कोहल आदि के अनुसार हैं। इससे कुछ लोगों ने यह संभावना प्रकट की है, कि वर्तमान नाट्यशास्त्र में कुछ अंश कोहल-कृत अवश्य जुड़ा है, परन्तु किन्हीं अन्य पुष्ट प्रमाणों के अभाव में ऐसी संभावना को तथ्य रूप में स्वीकार करना कुछ कम ही उचित प्रतीत होता है।

ऊपर्युक्त तण्डु तथा कोहल की गणना नाट्यशास्त्र में भरत के सौ पुत्रों में भी की गई है^१। सामान्यरूप से किसी एक व्यक्ति के सौ पुत्रों के होने का वर्णन कुछ आलंकारिक ही अधिक प्रतीत होता है। कुछ लोगों ने भरत के सौ पुत्रों का तात्पर्य सौ अभिनेयार्थों से बताया है। इनके अनुसार ६ रस, ३३ व्यभिचारी, तथा ८ सात्विक भाव को मिलाकर ५० अभिनेयार्थ हैं, जो उचित और अनुचित प्रयोग के भेद से १०० हो जाते हैं। यहाँ सौ पुत्रों के द्वारा इन्हीं की ओर संकेत किया गया है। अभिनव ने सौ पुत्र-सम्बन्धी उक्त तात्पर्य को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार भरत के सौ पुत्रों का नामोल्लेख यहाँ नटों अर्थात् अभिनेताओं के आदरार्थ ही समझना चाहिये। उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र यद्यपि भरतपुत्रों की संख्या १०० बताता है, परन्तु गणना करने पर वे १०५ निकलते हैं।

नाट्यशास्त्रकार का कृतित्व

वर्तमान रूपमें उपलब्ध नाट्यशास्त्र के रचयिता चाहे एक भरत हों या अनेक, परन्तु उनके विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि नाट्यशास्त्र के रूप में उन्होंने साहित्य को एक बहुत बड़ी देन दी है। इस कृति को देखकर कोई भी कह सकता है, कि उसके रचयिता कुशल नाट्यशास्त्री एवं नाट्य-प्रयोक्ता रहे होंगे। नाट्यशास्त्र से उनकी क्रमवद्ध एवं सूक्ष्म विवेचन करने की अद्भुत शक्ति का परिचय मिलता है। उन्होंने नाट्य-सम्बन्धी सर्वांगीण विवेचन

तो प्रस्तुत ही किया है, साथ ही नाट्य-कला तथा अभिनेताओं को समाज में प्रतिष्ठित स्थान दिलाने का भी महत्वपूर्ण प्रयास किया है । आपस्तम्ब तथा गौतम के धर्मसूत्रों एवं मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में सभ्य लोगों और विशेष रूप से ब्रह्मचारियों के लिये गीत, नृत्य तथा नाट्यादि से दूर रहने की सलाह दी गई है, और अभिनय का कार्य-करने वालों को तो छूद्र के समान हीन कहा गया है^१ । इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में नाट्यकला तथा अभिनेता इन दोनों को ही हीन समझा जाता रहा है । नाट्यशास्त्रकार ने नाट्यविद्या को वेद कहकर इस हीनत्व को दूर करने का क्रान्तिकारी प्रयास किया है । अभिनेताओं की प्रशंसा में तो उन्होंने यहाँ तक कहा है कि उन्हें यज्ञ एवं दान करने वालों के समान शुभ गति प्राप्त होती है^२ । इस प्रकार नाट्यकला के उद्धार एवं प्रतिष्ठापन-हेतु नाट्यशास्त्रकार का प्रयास स्तुत्य ही माना जायगा ।

१- आपस्तम्ब धर्मसूत्र १-१, ३, ११, १२, गौतम धर्मसूत्र १-१५, १६ मनुस्मृति २-१७८, ८-६५

२ षोड-ना० शा० ३६-७९. ८०

द्वितीय परिच्छेद

नाट्यशास्त्र का सामान्य परिचय

भरत मुनि द्वारा रचित माना जाने वाला 'नाट्यशास्त्र' साहित्यशास्त्र का एक प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत नाट्य की रचना तथा प्रयोग से सम्बन्धित अनेक विषयों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। नाट्य-सम्बन्धी विवेचन के साथ-साथ रस, अलङ्कार, छन्द, भाषा, नृत्त, गीत, वाद्य तथा अन्य अनेक विषयों का वर्णन होने से यह एक आकर ग्रन्थ बन गया है। नाट्य-शास्त्र तथा रसशास्त्र के प्रायः समस्त परवर्ती ग्रन्थों का तो यह उपजीव्य ही रहा है।

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि उन्नीसवीं सताब्दी के पूर्व इस ग्रंथ-रत्न की ओर विद्वानों का ध्यान ही नहीं जा सका। जैसे अन्य अनेक भारतीय कृतियों की ओर पाश्चात्यों द्वारा ध्यान दिये जाने के उपरान्त ही भारतीयों का ध्यान गया है, वैसे ही इस ग्रन्थ पर भी उन्हीं लोगों के ध्यान देने के उपरान्त हमारा ध्यान गया है। इस ग्रन्थ के प्रति इस प्रकार की उपेक्षा का कारण यही प्रतीत होता है कि मध्यकाल में नाट्यकला का पर्याप्त ह्रास हो चुका था। इस समय सम्भवतः न तो अभिनय की दृष्टि से श्रेष्ठ रूपक ही रचे गये, और न नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के अन्तर्गत रंगमंच तथा अभिनय आदि का विस्तृत विवेचन हो पाया।

विदेशियों का नाट्यशास्त्र सम्बन्धी कार्य

विलियम जोन्स द्वारा अभिज्ञान-शाकुन्तल का अनुवाद किये जाने के उपरान्त भारतीय रूपकों तथा 'नाट्यशास्त्र' पर विदेशियों की उत्सुकता स्वाभाविक ही थी। फलतः एच. एच. विल्सन ने कलकत्ता से सन् १८२७ ई. में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'सेलेक्ट स्पेसीमेन्स आफ़ दि चियेटर आफ़ हिन्दूज' में 'नाट्यशास्त्र' की भी चर्चा की। यहाँ उन्होंने यही सूचना दी थी, कि 'नाट्य

शास्त्र' नामक ग्रन्थ अब सदा के लिये लुप्त हो चुका है। यद्यपि श्री विल्सन द्वारा प्रदत्त सूचना बहुत ही निराशाजनक थी, परन्तु इसके लगभग ४० वर्ष के अन्दर ही सन् १८६५ ई. में एफ. हाल ने कलकत्ता से धनञ्जय के दशरूपक का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। उन्होंने इसके परिशिष्ट में 'नाट्यशास्त्र' के १८, १९, २० तथा ३४ वें अध्याय भी छपाये थे। इस प्रकार सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' के चार अध्याय प्रकाश में आये। श्री हाल यद्यपि पूरे 'नाट्यशास्त्र' का प्रकाशन कराना चाहते थे, परन्तु एक से अधिक पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध न हो सकने के कारण उन्हें यह विचार त्याग देना पड़ा। उन्हें जो पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई थी, वह इतनी अशुद्ध तथा खण्डित थी कि उसके आधार पर ग्रन्थ का प्रकाशन असम्भव था। इस प्रकार पूरे 'नाट्यशास्त्र' के प्रकाशन का प्रथम प्रयास सफल न हो सका।

उक्त प्रयास विफल होने के उपरान्त भी विदेशी विद्वानों ने इस कार्य को नहीं त्यागा। तब तक उपलब्ध सामग्री के अध्ययन के उपरान्त प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्री हेमान ने 'नाट्यशास्त्र' के ऊपर एक विवेचनात्मक लेख लिखा जो मोटिंगन नगर की एक पत्रिका में सन् १८७४ ई. में प्रकाशित हुआ। इसके उपरान्त पी. रेग्ना नामक फ्रांसीसी विद्वान ने १८८० ई. में 'नाट्यशास्त्र' के सत्रहवें अध्याय का तथा १८८४ ई. में छठवें, सातवें, पन्द्रहवें तथा सोलहवें अध्यायों का प्रकाशन कराया। इस भाँति इनके प्रयास से 'नाट्यशास्त्र' के पाँच अध्याय, तथा श्री हाल के प्रयास से चार अध्याय, अर्थात् कुल मिलाकर ९ अध्याय विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत हो सके।

इसके उपरान्त श्री रेग्ना के शिष्य प्रोसे नामक फ्रांसीसी विद्वान् ने १८८८ ई. में 'नाट्यशास्त्र' का संगीत-सम्बन्धी अट्ठाइसवाँ अध्याय प्रकाशित कराया, तथा दस वर्ष पश्चात् १८९८ ई. में 'नाट्यशास्त्र' के एक से लेकर चौदहवें अध्याय तक का प्रकाशन करा दिया। इस प्रकार 'नाट्यशास्त्र' के सबसे बड़े भाग के प्रथम प्रकाशन का श्रेय श्री प्रोसे तथा उनके गुरु श्री रेग्ना को ही दिया जाना चाहिये। साथ ही 'नाट्यशास्त्र' पर कार्य करने वाले एक तीसरे फ्रेंच विद्वान् सिस्वाँ लेवी का नामोल्लेख भी अनुचित न होगा, जिन्होंने १८९० ई. में प्रकाशित होने वाले अपने ग्रन्थ 'थियेटर इण्डियन' में 'नाट्यशास्त्र' के कुछ अध्यायों का विवेचन किया था। इस प्रकार लगभग ६५ वर्षों तक इन

विदेशी विद्वानों द्वारा 'नाट्यशास्त्र' के उद्धार का कार्य चलता रह, जिसके लिये ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

भारतीय विद्वानों का नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी कार्य

भारत में सर्वप्रथम १८६४ ई. में काव्यमाला सिरीज के अन्तर्गत निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से पूरे 'नाट्यशास्त्र' का प्रकाशन हुआ। इसका सम्पादन पं० शिवदत्त तथा काशीनाथ पाण्डुरंग परब द्वारा किया गया था, तथा इसमें कुल सैंतीस अध्याय थे। इसी बीच 'नाट्यशास्त्र' पर लिखी गई अभिनवगुप्त की 'अभिनव-भारती' नामक व्याख्यार के अस्तित्व का भी पता चला। इस टीका के साथ 'नाट्यशास्त्र' के २७ अध्यायों का सम्पादन श्री रामकृष्ण कवि ने किया जो तीन भागों में गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ौदा से क्रमशः १९, २६, ३० तथा ५४ में प्रकाशित हुआ। इसी बीच 'नाट्यशास्त्र' के दो और संस्करण प्रकाशित हुए। एक तो पं० बटुकनाथ शर्मा के सम्पादन में काशी संस्कृत सीरीज वाराणसी से १९२७ ई. में प्रकाशित हुआ, और दूसरा पं० केदारनाथ के सम्पादन में काव्यमाला सिरीज निर्णय सागर प्रेस बम्बई से १९४३ ई. में।

इसके उपरान्त श्री मनमोहन घोष ने 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम सत्ताइस अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद किया, जो रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से १९५० ई. में प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर श्री घोष द्वारा सम्पादित पूरे 'नाट्यशास्त्र' का मूल पाठ कलकत्ता से १९५६ ई. में तथा अंग्रेजी अनुवाद १९६१ ई. में प्रकाशित हुआ। इसी बीच सन् १९५६ ई. में गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज बड़ौदा से 'नाट्यशास्त्र' का एक और संस्करण निकला जिसमें अभिनव-भारती के साथ केवल सात अध्याय थे। इसका सम्पादन श्री रामास्वामी शास्त्री ने किया था। इसके अनन्तर १९६० ई. में आचार्य विश्वेश्वर ने अभिनव भारती के साथ 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम, द्वितीय तथा षष्ठ-अध्याय का सम्पादन किया, जिसमें पर्याप्त पाठ-संशोधन किया गया है। इसका प्रकाशन दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा १९६० ई. में किया गया है। इसके तीन वर्ष अनन्तर डा० रघुवंश ने 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम सात अध्यायों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया, जो मूल के साथ ही १९६३ ई. में मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली से प्रकाशित है। सन् १९६४ ई. में गायकवाड़ ओरिएण्टल

सीरीज बड़ोदा ने अभिनव-भारती से युक्त 'नाट्यशास्त्र' का अठ्ठाइसवें अध्याय से अन्त तक का समस्त भाग प्रकाशित कर दिया है। इसका सम्पादन भी श्री रामकृष्ण कवि ने ही किया था। उक्त संस्करणों के अतिरिक्त प्रो० भानु ने 'नाट्यशास्त्र' का मराठी अनुवाद भी प्रस्तुत किया था। अब तक देशी तथा विदेशी विद्वानों द्वारा किये गये 'नाट्यशास्त्र' सम्बन्धी प्रमुख कार्य का यही संक्षिप्त विवरण है।

आकार

'नाट्यशास्त्र' का जो प्रथम संस्करण काव्यमाला सीरीज बम्बई से १८६४ ई. में निकला था, उसमें कुल सैंतीस अध्याय थे। इसके विपरीत वहीं से प्रकाशित १६४३ ई. वाले संस्करण में कुल ३६ ही अध्याय थे। इसी प्रकार अन्य कई संस्करणों में भी कुल छत्तीस अध्याय ही मिलते हैं। अभिनव ने अपनी अभिनव-भारती व्याख्या की प्रस्तावना में जो श्लोक लिखे हैं; उनमें से द्वितीय श्लोक में 'षट्त्रिंशकं भरत-सूत्रमिदं विवृण्वन्' ऐसा पाठ मिलता है, जो 'नाट्य-शास्त्र' के ३६ अध्यायों का ही संकेत देता है। अस्तु मूलतः उसके अन्दर ३६ अध्याय ही प्रतीत होते हैं। यह एक अध्याय का अन्तर केवल अन्तिम अध्याय से ही सम्बन्धित है। जिन संस्करणों में ३६ अध्याय हैं, उनके छत्तीसवें अध्याय में नाट्य के भूलोक में अवतरण का कारण तथा नहुष के प्रयत्न से नाट्य के धरती पर आने का वर्णन है। इसके विपरीत जिस संस्करण में ३७ अध्याय हैं, उसमें उक्त दोनों प्रसंग अलग-अलग अध्यायों में कर देने से एक अध्याय बढ़ गया है। अर्थात् इसके छत्तीसवें अध्याय में केवल नाट्य के भूलोक पर अवतरण का कारण दिया गया है, और नहुष वाला प्रसंग सैंतीसवें अध्याय में कर दिया गया है। इस प्रकार अध्याय-संख्या के अन्तर के अतिरिक्त इन दोनों संस्करणों के पाठ में कोई न्यूनाधिक्य नहीं मिलता।

'नाट्यशास्त्र' को षट्साहस्री संहिता कहा जाता है। इसमें कुल मिलाकर लगभग ५६०० श्लोक मिलते हैं,^१ तथा बीच-बीच में गद्य-खण्ड भी हैं। यदि ३२ अक्षरों का एक छन्द माना जाय, तो इसकी श्लोक-संख्या लगभग छः

हुजार हो जाती है। इस प्रकार भावप्रकाशन-कार शारदातनय का यह कथन कि-

पङ्क्तिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः ॥ १०-३५

ठीक ही प्रतीत होता है। इन छः हजार श्लोकों में से लगभग ३१ छन्द आनुबन्ध-श्लोकों के रूपमें, लगभग १०० छन्द 'भवन्ति चात्र श्लोकाः' अथवा 'अत्रायं भवतः' इस रूप में तथा अन्य कई छन्द 'सूत्रानुविद्धे आयं भवतः' इस रूप में प्राप्त होते हैं।

नाट्यशास्त्र में वर्णित विषयों का संक्षिप्त परिचय

१. 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय का नाम नाट्योत्पत्ति अध्याय है। इसमें नाट्यवेद की उत्पत्ति का वर्णन है। यहाँ प्रश्नकर्त्ता-रूप में ऋषियों का, तथा उत्तरदाता-रूप में भरत का उल्लेख हुआ है।
२. द्वितीय अध्याय का नाम प्रेक्षागृहलक्षण है। इसके अन्तर्गत विकुण्ड, चतुरस्त्र तथा-त्र्यस्त्र इन तीन प्रकार के नाट्यगृहों के निर्माण की विधि वर्णित है। इसके अन्तर्गत नेपथ्यगृह, रंगशीर्ष, रंगपीठ, भक्तवारणी तथा मण्डप आदि बनाने एवं चित्रकर्म आदि करने का विस्तृत वर्णन हुआ है।
३. तृतीय अध्याय का नाम रंगदैवत-पूजन अध्याय है। इसके अन्तर्गत नाट्याचार्य के प्राथमिक कर्त्तव्यों, देवस्तुति तथा देव-पूजनादि का विस्तृत वर्णन हुआ है। यह अध्याय साहित्यिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।
४. चतुर्थ अध्याय का नाम ताण्डव-लक्षण अध्याय है। इसमें प्रमुख रूप से ताण्डव नृत्त का वर्णन किया गया है जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के करणों, अंगहारों तथा रेखकों आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। इस अध्याय का महत्त्व भी साहित्य की अपेक्षा नृत्त-शास्त्र की दृष्टि से ही अधिक है।
५. पंचम अध्याय का नाम पूर्वरंग-विधान है। इसमें नाट्य-प्रदर्शन से पूर्व किये जाने वाले मंगलात्मक तथा मनोरंजनात्मक नान्दी आदि पूर्वरंग के विविध अंगों का वर्णन हुआ है। इस अध्याय में वर्णित विषय नाट्य-रचना तथा प्रयोग दोनों दृष्टियों से उपयोगी है।

६. छठवें अध्याय का नाम रसाध्याय है, जिसके अन्तर्गत रस-निष्पत्ति तथा आठ नाट्य-रसों का विस्तृत विवेचन किया गया है।
७. सातवें अध्याय का नाम भाव-व्यञ्जक अध्याय है। इसमें विभावों, अनु-भावों, स्थायी भावों, संचारी भावों तथा सात्विक भावों का विस्तृत विवेचन हुआ है। नाट्यशास्त्र के छठवें तथा सातवें अध्याय साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। परवर्ती काल में जितना भी रस-भावादि-विवेचन हुआ है, उसके आधार के रूप में इन्हीं का प्रयोग किया गया है।
८. 'नाट्यशास्त्र' के आठवें अध्याय का नाम उपांग-विधान है। इसके अन्तर्गत अभिनय के चार प्रकार बताने के उपरान्त, आंगिक अभिनय के अन्तर्गत सिर तथा उससे सम्बन्धित नेत्र, भ्रू, नासिका, कपोल तथा ग्रीवा आदि उपाङ्गों द्वारा किये जाने वाले अभिनय का विस्तृत वर्णन है, जो नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से परमोपयोगी है।
९. नवम अध्याय का नाम हस्ताभिनय अध्याय है। इसके अन्तर्गत असंयुत तथा संयुत हस्तों द्वारा किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के अभिनयों तथा नूत-हस्तों (हस्त-मुद्राओं) आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है।
१०. दशम अध्याय का नाम शारीराभिनय अध्याय है। इसमें वक्षस्थल, पाश्वर्क, कटि, जंघा तथा पैरों द्वारा किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के अभिनयों का वर्णन मिलता है।
११. ग्यारहवें अध्याय का नाम चारी-विधान है। इसमें भौमी तथा आकाशी चारियों का वर्णन है।
१२. बारहवाँ अध्याय मण्डल-विधान नामक है, जिसमें चारियों के संयोग से बनने वाले विविध मण्डलों का वर्णन है।
१३. तेरहवें अध्याय का नाम गति-प्रचार अध्याय है। इसमें विभिन्न प्रकार के पात्रों द्वारा प्रयुक्त गतियों का वर्णन है। किस प्रकार का पात्र किस प्रकार की स्थिति में किस प्रकार चले, इसका यहाँ सुन्दर विवेचन हुआ है। इस प्रकार नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से यह अध्याय परमोपयोगी है।

१४. चौदहवें अध्याय का नाम प्रवृत्ति-धर्मी-व्यञ्जक अध्याय है। इसमें विभिन्न प्रदेशों की प्रवृत्तियों तथा नाट्य रुढ़ियों का अच्छा विवेचन किया गया है।
१५. पन्द्रहवें अध्याय का नाम छन्दो-विधान है। यहाँ से लेकर उन्नीसवें अध्याय तक वाचिक अभिनय का विवेचन हुआ है। पन्द्रहवें अध्याय में व्याकरण और भाषा-शास्त्र से सम्बन्धित कुछ विषयों का वर्णन करके प्रमुख रूप से छन्दों का वर्णन किया गया है।
१६. सोलहवें अध्याय का नाम छन्दो-विधिति है। इसमें भी छन्दों का ही वर्णन मिलता है।
१७. सत्रहवें अध्याय का नाम वागभिनय है। इसके अन्तर्गत काव्य-लक्षणों, अलङ्कारों, गुण-दोषों आदि का विवेचन किया गया है।
१८. अठारहवें अध्याय का नाम भाषा-विधान है। इसके अन्तर्गत रूपकों में प्रयुक्त की जाने वाली चतुर्विध भाषाओं तथा सप्त विभाषाओं आदि का वर्णन है। नाट्य की दृष्टि से यह अध्याय भी बहुत ही महत्वपूर्ण है।
१९. उन्नीसवें अध्याय का नाम काकुस्वर-व्यञ्जक अध्याय है। इसमें काकु, स्वर, नामाभिधान तथा पाठ्य के गुण-दोषादि का सूक्ष्म वर्णन हुआ है। यह अध्याय भी नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार वाचिक अभिनय से सम्बन्धित अध्यायों में से अठारहवाँ तथा उन्नीसवाँ अध्याय नाट्य की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। शेष पन्द्रहवाँ तथा सोलहवाँ नाट्यशास्त्र की अपेक्षा छन्दः शास्त्र से, तथा सत्रहवाँ अध्याय काव्यशास्त्र से अधिक सम्बन्धित है।
२०. बीसवें अध्याय का नाम दशरूप-विधान है। इसमें नाटकादि दस रूपकों तथा सास्यांगों का वर्णन मिलता है।
२१. इक्कीसवें अध्याय का नाम संध्यङ्ग-विकल्प है। इसमें इतिवृत्त की पञ्च संधियों तथा उनके विविध अंगों का विवेचन हुआ है।
२२. बाईसवें अध्याय का नाम वृत्ति-विकल्प है। इसमें भारती, सात्वती, आर-भटी तथा कैशिकी नामक वृत्तियों तथा उनके विविध अंगों का वर्णन है, बीसवें से बाईसवें अध्याय तक का विषय नाट्यशास्त्र की दृष्टि से परमोपयोगी

है। नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी दशरूपक आदि परवर्ती ग्रन्थों में तो प्रायः इन तीन अध्यायों के विषय का ही विवेचन मिलता है।

२३. तेईसवें अध्याय का नाम आहार्याभिनय है। इसके अन्तर्गत चतुर्विध नेपथ्य तथा उससे सम्बन्धित अन्य विषयों का भी विस्तृत वर्णन है।
२४. चौबीसवाँ अध्याय सामान्याभिनय नामक है। इसमें सात्विक अभिनय के अन्तर्गत भाव, हाव तथा हेला आदि के अभिनय का विस्तृत वर्णन है।
२५. पच्चीसवाँ अध्याय बाह्योपचार नामक है। इसके अन्तर्गत वेदपाओं तथा वैशिक लोगों का विस्तृत वर्णन है, जो नाट्यशास्त्र की अपेक्षा कामशास्त्र से अधिक सम्बन्धित हैं।
२६. छब्बीसवें अध्याय का नाम चित्राभिनय अध्याय है। आंगिक आदि अभिनयों के अन्तर्गत जो बातें कहने को शेष रह गई थीं, यहाँ उनका वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह अध्याय अभिनय-सम्बन्धी अध्यायों का परिशिष्ट जैसा है।
२७. सत्ताईसवें अध्याय का नाम सिद्धि-व्यञ्जक अध्याय है। इसमें रूपकों की सफलताओं तथा असफलताओं एवं नाट्य-मण्डली आदि का वर्णन है।
अट्ठाईसवें अध्याय से लेकर तैतीसवें अध्याय तक छः अध्यायों में संगीत से सम्बन्धित विषयों का वर्णन मिलता है।
२८. अट्ठाईसवें अध्याय में चतुर्विध वाद्यों तथा स्वरों आदि का सामान्य विवेचन हुआ है।
२९. उन्तीसवाँ अध्याय तत् वाद्यों अर्थात् बीणा आदि के वादन से सम्बन्धित है।
३०. तीसवें अध्याय में सुषिर वाद्य अर्थात् बाँसुरी-वादन का वर्णन है।
३१. द्वातीसवाँ अध्याय लय, ताल, यति तथा आसारित आदि से सम्बन्धित है।
३२. बत्तीसवें अध्याय में ध्रुवा-गीतों का विस्तृत विवेचन हुआ है।

३३. तैत्तिरीय अर्थात् मृदङ्ग आदि के वादन से सम्बन्धित है। इस प्रकार इन छः अध्यायों का विषय संगीतशास्त्र से हो सम्बन्धित है।
३४. चौत्तीसवें अध्याय में विभिन्न प्रकार के चरित्रों तथा पात्रों का वर्णन हुआ है।
३५. पैंतीसवाँ अध्याय पात्रों की भूमिका (पाठ) प्रदान करने से सम्बन्धित है। इसमें विस्तार से बताया गया है, कि किस प्रकार की भूमिका अदा करने हेतु किस प्रकार का पात्र चाहिये।
३६. छत्तीसवें और अन्तिम अध्याय में नाट्य के धरती पर अवतरण की कथा वर्णित है। संक्षेप में यही 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित विषयों का अध्यायानुसार परिचय है।

नाट्यशास्त्र में पाठ-भेद पुनरुक्तियाँ तथा असंबन्धितियाँ

'नाट्यशास्त्र' की विभिन्न प्रतियों में पर्याप्त पाठ-भेद मिलता है। रामकृष्ण कवि ने 'नाट्यशास्त्र' के सम्पादन में लगभग ४० पाण्डुलिपियों का प्रयोग किया है, परन्तु उनके अनुसार उनमें से कोई भी दो ऐसी नहीं थीं, जिनका पाठ परस्पर मिलता हो^१। विभिन्न स्थानों से 'नाट्यशास्त्र' की जो प्रतियाँ प्रकाशित हुई हैं, उनमें भी परस्पर अधिक पाठ-भेद हैं। अध्याय-संख्या, उनके क्रम तथा अध्यायों के अन्तर्गत आये श्लोकों की संख्या के विषय में भी पर्याप्त विभिन्नता दृष्टिगत होती है। उदाहरणार्थ पञ्चम अध्याय के अन्तिम ४० श्लोक बहुत सी प्रतियों में नहीं मिलते। काव्यमाला सीरीज के संस्करण के सोलहवें तथा काशी संस्करण के सत्रहवें अध्याय में वर्णित ३६ काव्य-लक्षण तो अनुष्टुप् छन्दों में हैं, परन्तु वे ही गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ीदा वाले संस्करण के सोलहवें अध्याय में उपजाति छन्दों में गिनाये गये हैं^२। श्री घोष ने सत्रहवें अध्याय में लक्षणों के उक्त दोनों प्रकार के वर्णनों को ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार यहाँ पर पुनरुक्ति दोष भी दृष्टिगत होता है। इस प्रकार 'नाट्यशास्त्र'

१- काणे-संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १६

२- वही, पृ० १७

के भिन्न संस्करणों में पाठ-भेद तथा क्रम-भेद के बहुत ही अधिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। जहाँ तक पुनर्वृत्तियों का सम्बन्ध है, वे भी इतनी अधिक मिलती हैं, कि एक ही संस्करण में अनेक श्लोक अनेक बार लिखे मिलते हैं। उदाहरणार्थ श्री धोष के ही संस्करण में आने वाले प्रथम अध्याय के श्लोक सं० ११६, १२० तथा १२१ उसी के इक्कीसवें अध्याय में क्रमशः सं० ११८, १२० तथा ११९ में पुनः आये हैं। यहाँ इस प्रकार के अन्य भी अनेकों उदाहरण दृष्टिगत होते हैं।

‘नाट्यशास्त्र’ के दो पाठ तो सम्भवतः अभिनव के काल में ही माने जाने लगे थे, क्योंकि छन्द-विषयक पन्द्रहवें अध्याय की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए उसके कुछ अंश के द्विविध पाठ के मिलने की बात अभिनव ने स्वयं लिखी है। ‘नाट्यशास्त्र’ के बड़ौदा-संस्करण के सम्पादक श्री रामकृष्ण कवि भी कहते हैं कि ‘नाट्यशास्त्र’ के दो प्रकार के संस्करण बहुत पहिले से हैं। उनमें से एक उत्तरी संस्करण है, दूसरा दक्षिणी। श्री कवि ने इन दोनों में दक्षिणी को अधिक प्राचीन माना है^१। अस्तु ‘नाट्यशास्त्र’ में पाठ-भेद मिलने की समस्या पुरानी ही प्रतीत होती है। श्री कवि ने तो यहाँ तक लिखा है कि ‘नाट्यशास्त्र’ तो अलग, स्वयं अभिनव-भारती व्याख्या तक में पर्याप्त पाठ-भेद मिलता है^२।

‘नाट्यशास्त्र’ के प्रचलित संस्करणों में असङ्गतियाँ भी पर्याप्त मिलती हैं। उदाहरणार्थ यहाँ एक ओर तो वृत्तियों की उत्पत्ति वेदों से बताई गई है, और साथ ही एक कथा देकर उनकी उत्पत्ति विभिन्न प्रकार से भी बताई गयी है^३। इसी प्रकार चित्राभिनय-वर्णन के प्रारम्भ में तो कहा गया है कि यहाँ आंगिक अभिनय से सम्बन्धित अवशिष्ट बातें बतायी जा रही हैं, परन्तु आगे प्रायः चारों प्रकार के अभिनयों से सम्बन्धित बातें बतायी गयी हैं^४। इसके अतिरिक्त ‘नाट्यशास्त्र’ के बहुतेरे विषयों का विवेचन कुछ अस्पष्ट-सा भी मिलता है। उदाहरणार्थ रंगपीठ रंगशीर्ष, मत्तवारणी तथा वृत्तियों से नाट्योत्पत्ति आदि से सम्बन्धित वर्णन बहुत ही अस्पष्ट है। असङ्गतियों तथा अस्पष्टताओं के अतिरिक्त

१- काणे, भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १६

२- वही, पृ० १७

३- धोष, ना० शा० २२-१ से २३ तथा २४

४- वही, अध्याय २६

‘नाट्यशास्त्र’ के प्रचलित संस्करणों में पाठ-सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी पर्याप्त दृष्टिगत होती हैं, जिनमें से अनेकों की ओर आचार्य विश्वेश्वर ने अपने द्वारा सम्पादित संस्करण में ध्यान दिलाया है। इस सबका प्रमुख कारण यही प्रतीत होता है कि ‘नाट्यशास्त्र’ के पाठ पर अनेक लोगों ने अपने-अपने हाथ लगाये हैं।

नाट्यशास्त्र में प्रक्षेप

विद्वानों ने ‘नाट्यशास्त्र’ के अन्तर्गत प्रक्षेप भी बहुत माने हैं। वैसे भी बहुत माने हैं। वैसे ‘नाट्यशास्त्र’ का रस-विवेचन उसका मौलिक भाग ही माना जाता है, परन्तु उसमें भी शान्तरस-विवेचन के प्रक्षिप्त होने का सन्देह होता है। कारण कि रस-विकल्प नामक छठवें अध्याय के अन्त में कहा गया है कि ‘एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः;’ अर्थात् इस प्रकार आठ रस समझे जाने चाहिये। परन्तु अध्याय के अन्दर शान्त नामक नवम रस का भी विवेचन प्राप्त होता है। अस्तु उसकी मौलिकता पर सन्देह होना स्वाभाविक हो जाता है। वैसे अभिनव ने शान्तरस-विवेचन की भी व्याख्या की है। अतः स्पष्ट है कि यह अंश अभिनव से पूर्व ही जुड़ चुका होगा। कालिदास के काल में सम्भवतः यह अंश नहीं जुड़ा था, क्योंकि वे विक्रमोर्वशीय में कहते हैं—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः ॥ २-१५

अर्थात् भरतमुनि ने अष्ट-रसात्मक नाट्य का प्रयोग किया था। इससे प्रतीत होता है कि यह अंश कालिदास के उपरान्त ही कभी जुड़ा होगा। इसे श्री काणे भी स्वीकार करते हैं^१।

पंचम अध्याय के पूर्व रंग-विषयक अंतिम ४० श्लोक जिन पर अभिनव की व्याख्या नहीं मिलती, वे भी बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार छन्द-विषयक पन्द्रहवें तथा अवनद्ध वाद्य-विषयक तैत्तिरीयों अध्याय के भी दो प्रकार के पाठ मिलते हैं, जिनमें से एक निश्चित रूप से प्रक्षिप्त होना चाहिये। सत्रहवें अध्याय के आरम्भ में किये गये छत्तीस काव्य-लक्षणों के वर्णन के भी द्विविध पाठ उपलब्ध हैं। इनमें भी एक पाठ निश्चित ही प्रक्षिप्त होगा।

‘नाट्यशास्त्र’ में जो अनेक ‘आनुवंशय श्लोक, अत्रार्ये भवतः अथवा अत्रार्याः’ के रूप में जो श्लोक आते हैं, उनके विषय में भी सन्देह ही व्यक्त किया जाता है, कि ये ग्रन्थ के मौलिक अंश ही हैं, अथवा बाहर से लिये हुए उद्धरण। अभिनव ने आनुवंशय का अर्थ शिष्याचार्य-परम्परा से प्राप्त श्लोक बताया है^१। इसका तात्पर्य है कि ये ग्रन्थ के मूल अंश नहीं हैं, बरन् ‘नाट्य-शास्त्र’ से पर्याप्त पहिले की रचनाएँ हैं। सूत्रानुविद्ध आर्याओं के विषय में अभिनव का मत है कि इनका अर्थ सूत्र के साथ सम्बद्ध अथवा सूत्रार्थ को स्पष्ट करने वाली आर्याएँ हैं^२। अभिनव यहाँ यह नहीं स्पष्ट करते कि ये ग्रन्थकार की रचनाएँ हैं, अथवा किसी अन्य की। अस्तु निश्चित रूप से कहना कठिन है कि मूल रूप से ये किसकी रचनाएँ हैं, परन्तु ग्रन्थकार के कथन को ही पुष्ट करने के कारण प्रतीत होता है कि ये प्रमाण रूप में उद्धृत है, तथा ग्रन्थकार से पूर्व भी किसी अन्य की ही रचनाएँ हैं। ‘अत्रार्याः’ के उपरान्त लिखी हुई आर्याओं के विषय में अभिनव का मत है कि ये पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत हैं, जिन्हें ‘नाट्य-शास्त्र’ में यथा स्थान उद्धृत किया गया है^३। इस प्रकार ये आर्याएँ भा ‘नाट्यशास्त्र’ के मूल भाग से भिन्न ही ठहरती हैं।

अभिनव ने भी प्रसिद्ध रस-सूत्र ‘विभावानुभाव०’ के उपरान्त आने वाले ‘अत्रानुवंशौ श्लोकी भवतः’ की व्याख्या में ‘अत्रेति भाष्ये’ ऐसा लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि वे ‘विभावानुभाव०’ आदि को सूत्र तथा उससे परवर्ती गद्य-भाग की भाष्य मानते हैं। अतएव कुछ लोगों ने ‘नाट्यशास्त्र’ के सूत्र, भाष्य तथा कारिका, ये तीन स्तर माने हैं^४। ऐसे लोगों का कथन है कि ‘नाट्यशास्त्र’ का प्राचीनतम अंश सूत्र हैं, भाष्य उसके बाद का है, तथा अनुष्टुप् छन्द में लिखी कारिकाएँ सबसे बाद की होंगी। इस मान्यता के प्रमाण रूप में भवभूति द्वारा भरत को तोर्यत्रिक सूत्रकार^५ कहे जाने का भी उल्लेख किया गया

१. ना. शा. ६-३२ की व्याख्या में अभिनव-भारती

२. ना. शा. ६-४६ की व्याख्या में अभिनव-भारती

३. ना. शा. ६-६९ की व्याख्या में अभिनव-भारती

४. बल्देव उपाध्याय-भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ १७

५. उत्तर-रामचरित, चतुर्थ अङ्क

है, जिसके अनुसार ('नाट्यशास्त्र' के प्रणेता) भरत को सूत्रकार कहा गया है। परन्तु सूत्र केवल गद्य में ही लिखे जाते हों, ऐसी बात नहीं है। कारण कि अनेक सूत्र ग्रन्थपद्य में भी लिखे मिलते हैं। अस्तु मूल 'नाट्यशास्त्र' को गद्य-सूत्रों वाला ही ग्रन्थ समझना अनुचित प्रतीत होता है।

अस्तु 'नाट्यशास्त्र' के वर्तमान संस्करणों में सैकड़ों श्लोकों के हेरफेर तथा अनेक जटिलताओं के कारण आज यह बता पाना सरल कार्य नहीं है कि नाट्यशास्त्र का मौलिक रूप किस प्रकार का और कितना बड़ा था।

नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त भाषा तथा शैली

'नाट्यशास्त्र' में कुछ शब्दों को छोड़कर प्रायः सरल संस्कृत भाषा का ही प्रयोग मिलता है। यद्यपि इस ग्रन्थ को नाट्यवेद कहा गया है, तथापि इसकी भाषा वैदिक नहीं है। वाल्मीकि रामायण की भाषा की भाँति इसकी भाषा भी पाठक को सरलता से ही समझ में आ जाती है। 'नाट्यशास्त्र' में कुछ प्रयोग ऐसे भी मिलते हैं, जो लौकिक संस्कृत-व्याकरण से सम्मत नहीं हैं। उदाहरणार्थ 'ग्रहीत्वा' के लिये 'गृह्य' तथा 'छादयित्वा' के लिये 'छाद्य' ऐसे ही प्रयोग हैं^१। इसी प्रकार कतिपय छन्दों के अन्तर्गत संधि-हीनता के भी उदाहरण मिलते हैं, जो लौकिक संस्कृत के प्रतिकूल हैं। उदाहरणार्थ अधोलिखित छन्दों में संधि-हीनता देखी जा सकती है—

- (क) पुण्ड्राक्षं पुण्ड्रनासं च असितं सितमेव च । १-३६
- (ख) ततश्च करमावृत्य उरुपृष्ठे निपातयेत् । ४-१९९
- (ग) उद्वाहितं समं चैव उरः पञ्चविधं स्मृतम् । १०-१

'नाट्यशास्त्र' में कुछ शब्द ऐसे भी प्राप्त होते हैं, जो सम्भवतः केवल इसी में मिलते हैं। उदाहरणार्थ, कुतप (बाद्य-वृन्द), कामतंत्र (कामशास्त्र), उल्लुकषण (रोमांच), लल्लन-मन्नन (छोटे बच्चे), धृष्टि (चुत्नीती) तथा निस्तंभ (अचंचल) आदि ऐसे ही शब्द प्रतीत होते हैं^२। साथ ही इसमें कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो केवल कोश ग्रन्थों अथवा अति प्राचीन संस्कृत

१. घोष-ना. शा. क्रमशः २४-२५ तथा २३-८३

२. घोष-ना. शा. २-८२, ६-३२, ७-७६, १६-४५, ५५, २३-२१६, २५-३७

साहित्य में प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ चक्र (राज्य), आयस्त (चौड़ा), ओङ् (उड़ीसा), इमिल (द्रविड़), दोरक (डोरा) महत्तरी (अंतःपुर-पर्यवेक्षिका) तथा सभास्तार (सभासद) आदि ऐसे ही शब्द हैं^१।

यदि इस प्रकार के शब्दों तथा कुछ अन्य पारिभाषिक शब्दों को अलग कर दिया जाय, तो 'नाट्यशास्त्र' की भाषा प्रसाद गुण से युक्त ही मानी जानी चाहिये। हाँ, इतना अवश्य है, इसके कतिपय स्थल पारंपरिक ज्ञान के अभाव में आज दुरुह बन गये हैं।

शैली

'नाट्यशास्त्र' की रचना में गद्य तथा पद्य दोनों ही प्राप्त होते हैं, परन्तु गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक हैं। पद्यों में प्रायः अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग अधिक मिलता है। अध्याय सं० ६, ७, १४, १५, १६, २८, ३३ तथा ३५ में पद्यों के साथ गद्य भी मिलता है। इनमें से भी छठवें तथा सातवें अध्याय में गद्य का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। इस गद्य में कहीं-कहीं पर सूत्र-भाष्य शैली की सी झलक भी मिलती है। उदाहरणार्थ छठवें अध्याय में आया वाक्य 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' तो सूत्र प्रतीत होता है, तथा इसके आगे आने वाला गद्यांश इसका भाष्य। अभिनव ने तो सम्भवतः इसे भाष्य ही माना भी है, क्योंकि इस स्थल की व्याख्या में उन्होंने इस अगले गद्यांश को भाष्य कहा है। 'नाट्यशास्त्र' का कुछ गद्य भाग निरुक्त के गद्य से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, सातवें अध्याय में व्यभिचारी भावों का वर्णन इस प्रकार आरम्भ होता है—

व्यभिचारिण इदानीं वक्ष्यामः । अत्राह, व्यभिचारिण इति
कस्मादुच्यन्ते ? वि अभि इत्येतावुपसर्गौ । चर् गतौ
घातुः । विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः ।

निरुक्त में भी छोटे-छोटे सरल वाक्यों की यही प्रश्नोत्तर शैली दृष्टिगत होती है। जैसे—

१. वही २-५७, ३-१३, १४-४३, १६-४३, २३-२३, ३४-३४-३४-६१

अपत्यं कस्मात् ? अपततं भयति, नानेन पततीति वा ।

‘नाट्यशास्त्र’ की शैली किसी विषय का क्रमबद्ध और विस्तृत विवेचन करने की रही है । परवर्ती नाट्यशास्त्रियों की भाँति उन्होंने विषय का मात्र संक्षिप्त वर्णन नहीं किया, वरन् उससे सम्बद्ध प्रत्येक बात समझाने का अच्छा प्रयास किया है । संभवतः इसी कारण यहाँ नाट्य से सम्बन्धित अन्य भी अनेक विषयों का वर्णन मिल जाता है । आनुवंशिक त्रुटियों आदि के द्वारा यहाँ विवेचन को प्राभाषिक बनाने का प्रयास भी उचित ही किया गया है । कहीं-कहीं मिलने वाले क्रम-भंग तथा असंगतियाँ आदि तो संभवतः उसमें परवर्ती काल में ही आई होंगी । इस प्रकार उसके विशद विवेचन-हेतु उसकी प्रशंसा ही की जानी चाहिये । उसकी शैली को पौराणिक बताकर उसमें अव्यवस्था-दोष मढ़ना उचित नहीं प्रतीत होता; वरन् अपने प्रतिपादन की दृष्टि से उसे एक श्रेष्ठ शास्त्रीय ग्रन्थ ही माना जाना चाहिये ।

नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार

यद्यपि इस समय अभिनव-भारती को छोड़कर ‘नाट्यशास्त्र’ की कोई भी टीका उपलब्ध नहीं होती, परन्तु इतना अवश्य प्रतीत होता है कि इस पर अभिनव से पूर्व भी अनेक व्याख्याएँ लिखी गई होंगी । शाङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ संगीतरत्नाकर में लिखा है कि—

व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः ।

भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः ॥ १-१६

इस प्रकार प्रतीत होता है कि लोल्लट, उद्भट, शङ्कुक, अभिनवगुप्त तथा कीर्तिधर ने इस पर व्याख्याएँ लिखी होंगी । अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में लोल्लट, उद्भट, शङ्कुक तथा कीर्तिधर के साथ ही भट्टनायक, भट्ट-यन्त्र, भाष्यकार नान्यदेव तथा हर्ष नामक किसी वातिककार का भी उल्लेख किया है । इस प्रकार अभिनव द्वारा निर्दिष्ट आठ विद्वानों में स्वयं अभिनव को जोड़ने पर उस समय तक उसके नौ व्याख्याकार प्रतीत होते हैं । अभिनव ने अपनी व्याख्या में यद्यपि भट्ट सुमनस, भट्टबुद्धि, भट्टगोपाल, भट्ट छद्रक, भट्टशंकर तथा घण्टक का भी उल्लेख किया है, परन्तु यह कहना कठिन है कि इन लोगों ने भी ‘नाट्यशास्त्र’ पर कोई व्याख्या लिखी थी, या नहीं । नीचे उक्त नौ संभावित व्याख्याकारों का परिचय दिया जा रहा है ।

१. आचार्य कीर्तिधर—अभिनव ने 'नाट्यशास्त्र' के चतुर्थ अध्याय के अन्तिम भाग की व्याख्या में केवल एक स्थान पर ही 'इति कीर्तिधराचार्याः' इस प्रकार कीर्तिधर का सादर उल्लेख किया है। अभिनव द्वारा प्रदर्शित इस आदर का कारण या तो यह हो सकता है कि वे उनके द्वारा उद्धृत उद्भट आदि अन्य टीकाकारों से प्राचीन हो, अथवा यह भी हो सकता है कि किसी प्रकार से उन पर अभिनव का अभिनिवेश रहा हो। यदि प्रथम सम्भावना सही हो, तब तो उद्भट से भी प्राचीन होने के कारण उन्हें सातवीं शताब्दी के पूर्व अथवा उसके प्रारंभिक भाग में मानना पड़ेगा, क्योंकि उद्भट लोल्लट से भी प्राचीन हैं, जिनका काल सातवीं शताब्दी का अन्तिम अथवा आठवीं का प्रारंभिक भाग माना जाता है।

२. नान्यदेव—अभिनव ने अभिनव भारती में एक स्थान पर नान्यदेव का उल्लेख 'उक्तं हि नान्यदेवेन स्व-भरतभाष्ये' इस प्रकार किया है। इससे स्पष्ट है कि नान्यदेव ने 'नाट्यशास्त्र' पर कोई भाष्य लिखा होगा। इनका अधिक परिचय न मिलने से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ये अभिनव से पूर्ववर्ती कोई आचार्य होंगे।

३. वार्तिककार हर्ष—अभिनव भारती में कई स्थलों पर वार्तिककार हर्ष के मत उद्धृत किये गये हैं। इसके अतिरिक्त शारदातनय ने अपने भाव-प्रकाशन नामक ग्रन्थ में भी हर्ष विक्रम नामक वार्तिककार का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि अभिनव से पूर्व कोई हर्ष या हर्ष विक्रम नामक आचार्य अवश्य थे, जिन्होंने नाट्य-सम्बन्धी वार्तिकों की रचना की थी। अस्तु सम्भावना प्रतीत होती है कि ये वार्तिक इसी 'नाट्यशास्त्र' पर रचित हो सकते हैं। आचार्य विश्वेश्वर इन वार्तिकों को इस 'नाट्यशास्त्र' पर लिखे गये न मानकर नाट्य-सम्बन्धी स्वतंत्र रचना मानते हैं^१।

४. उद्भट—'नाट्यशास्त्र' के प्रसिद्ध रससूत्र की व्याख्या करते हुए अभिनव ने उद्भट को रससूत्र का व्याख्याकार माना है, तथा उनका सिद्धान्त प्रस्तुत किया

१. विश्वेश्वर, हिन्दी अभिनव-भारती, भूमिका, पृ० १२

है। साथ ही संगीतरत्नाकर में भी ये 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकार माने गये हैं। अस्तु प्रतीत यही होता है कि इन्होंने 'नाट्यशास्त्र' अथवा उसके किसी भाग की व्याख्या अवश्य की होगी। अभिनव-भारती में इस व्याख्या के प्रसंग में ही लोल्लट को इनका खण्डन-कर्त्ता कहा गया है। अतः ये लोल्लट से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। लोल्लट का काल सातवीं शताब्दी का अन्तिम अथवा आठवीं का प्रारम्भिक भाग माना जाता है। अतः उद्भट का काल इससे पूर्व ही सातवीं शताब्दी के पूर्व या उसके प्रारम्भिक भाग में रहा होगा।

५. लोल्लट—अभिनव-भारती में भट्ट लोल्लट का नाम लगभग दस बार उद्धृत हुआ है। रस-निष्पत्ति के प्रसंग में अभिनव ने इनके सिद्धान्त को भी उद्धृत किया है, जो उत्पत्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इनका स्थिति काल सातवीं शताब्दी का अन्तिम अथवा आठवीं का प्रारम्भिक भाग माना जाता है।

६. शङ्कुक—अभिनव-भारती में शङ्कुक के मत का उल्लेख लगभग पन्द्रह बार हुआ है। रस-निष्पत्ति के प्रसंग में अभिनव ने उनका मत प्रस्तुत किया है, जो अनुमितिवाद के नाम से विख्यात है। कल्हण की राजतरंगिणी में कश्मीर के राजा अजितापीड के प्रसंग में एक श्लोक मिलता है, जिसमें कहा गया है कि इस राजा के लिये शङ्कुक नामक विद्वान् ने 'भुवनाभ्युदय' नामक एक काव्य की रचना की थी। यदि ये शङ्कुक यही हैं; तो इनका काल अजितापीड का ही काल अर्थात् नवम शताब्दी का प्रथम चरण माना जाना चाहिये।

७. भट्टनायक—अभिनव-भारती में भट्टनायक का नाम लगभग छः स्थानों पर आया है। उसमें रस-निष्पत्ति के प्रसंग में उद्धृत उनका मत भुक्तिवाद के नाम से विख्यात है। अभिनव के अतिरिक्त महिमभट्ट आदि विद्वानों ने भी इनका उल्लेख किया है। विद्वानों का अनुमान है कि ये आनन्दवर्द्धन के समकालीन तथा उन्हीं के आश्रयदाता कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के ही यहाँ थे, जिसका काल नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

८. भट्टयङ्ग—अभिनव-भारती में केवल एक स्थान पर इनका भी उल्लेख मिलता है। इससे लोगों ने अनुमान किया है कि सम्भवतः इन्होंने भी 'नाट्यशास्त्र' पर कोई व्याख्या लिखी होगी। इसके अतिरिक्त इनका कोई भी परिचय नहीं प्राप्त होता।

६. अभिनवगुप्त—अभिनवगुप्त 'नाट्यशास्त्र' के ऐसे व्याख्याकारों में हैं, जिन्होंने पूरे 'नाट्यशास्त्र' पर विस्तृत व्याख्या लिखी है। उनकी यह व्याख्या 'अभिनव-भारती' के नाम से विख्यात है। आजकल 'नाट्यशास्त्र' की केवल यही संस्कृत-व्याख्या उपलब्ध है।

अभिनवगुप्त के पूर्वज कल्पीज के निवासी थे, जो कालान्तर में कश्मीर में जा बसे थे। इनके ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ये अत्रिगोत्रीय कान्य-कुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पर-बाबा का नाम अत्रिगुप्त, बाबा का नाम बराहगुप्त तथा पिता का नाम नरसिंहगुप्त उपनाम खुलुखक था। इन्होंने अनेक गुरुओं से अनेक विद्याओं का अध्ययन किया था। इनके 'नाट्यशास्त्र' के गुरु भट्टतोत थे। अभिनव गुप्त का वैयक्तिक जीवन एक विरक्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी का जीवन था। उनके जीवन का प्रमुख कार्य अध्ययन तथा लेखन ही रहा है। अभिनव का जीवनकाल उनके ग्रन्थों के आधार पर ६५० ई० से १०२५ ई० तक माना जाता है।

यों तो अभिनव द्वारा लिखित ४१ ग्रन्थों का विवरण मिलता है, परन्तु अब तक उनमें से ११ ही प्रकाश में आ सके हैं। इनके नाम हैं १. बोध-पञ्चदशिका २. परात्रीशिका-विवरण ३. मालिनी-विजय वार्तिक ४. तन्त्रालोक ५. तन्त्रसार ६. तन्त्रवर्णानुसंधानिका ७. ध्वन्यालोक-लोचन ८. अभिनव-भारती ९. भगवद्गीतार्थ-संग्रह १०. परमार्थसार ११. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी। यद्यपि इनमें से कई ग्रन्थ अन्य ग्रन्थों की व्याख्याएँ ही हैं, तथापि उनका महत्व अत्यधिक है।

अभिनव-भारती

अभिनव ने लिखा है कि उन्होंने अपने गुरु भट्टतोत के मुंह से 'नाट्य-शास्त्र' की जो व्याख्या सुनी थी, उसे ही दूसरे जिज्ञासुओं के लाभार्थ लिपिबद्ध कर दिया था। यही लिपिबद्ध व्याख्या अभिनव-भारती के नाम से विख्यात हुई। यद्यपि अभिनव-भारती से युक्त सम्पूर्ण 'नाट्यशास्त्र' का प्रकाशन गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज बड़ौदा द्वारा चार खण्डों में किया जा चुका है, तथापि अभी

तक वह कई स्थलों पर खण्डित रूप में ही है। अस्तु उसके शोध की अभी महती आवश्यकता बनी हुई है।

नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

‘नाट्यशास्त्र’ में पर्याप्त प्रक्षेप प्राप्त हैं। ये प्रक्षेप किसी एक ही व्यक्ति ने एक ही समय में जोड़े होंगे, यह मान लेना भी कम उचित प्रतीत होता है। सम्भावना यही प्रतीत होती है कि मूल ‘नाट्यशास्त्र’ की रचना के अनन्तर समय-समय पर उसमें प्रक्षेप जुड़ते रहे होंगे। अस्तु वर्तमान रूप में उपलब्ध ‘नाट्यशास्त्र’ के पूरे भाग का काल-निर्धारण एक साथ करना कुछ कम उचित होगा। उसके वर्तमान रूप के विषय में मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि उसे यह रूप अभिनव से पूर्व ही प्राप्त हो चुका था। यह काल आठवीं शताब्दी के भी पूर्व हो सकता है, क्योंकि इस समय के ग्रन्थ ‘कुट्टिनीमत’ में ‘नाट्यशास्त्र’ के विषयों का वर्णन उसके वर्तमान रूप के ही अनुसार है।

श्री काणे ने ‘नाट्यशास्त्र’ के पाठ के तीन स्तर मानते हुए लिखा है^१ कि इसमें उद्धृत आर्याओं मौलिक ‘नाट्यशास्त्र’ से भी पूर्ववर्ती हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रथम पाँच तथा अन्तिम अध्याय और छन्द विषयक पन्द्रहवें-सोलहवें अध्यायों को मौलिक भाग से परवर्ती माना है। इस प्रकार उनके अनुसार अध्याय सं० ६ से १४ तथा १७ से ३५ तक का भाग ‘नाट्यशास्त्र’ का मौलिक भाग है, जो सम्भवतः एक ही काल में रचा गया होगा। इस प्रसंग में उद्धृत आर्याओं का रचना-काल तो श्री काणे ई० पू० द्वितीय शतक मानते हैं, तथा मौलिक भाग के विषय में मोटे रूप से यही कहते हैं कि यह तीसरी अथवा चौथी शताब्दी में विद्यमान था^२।

प्रो० मैकडानल ने ‘नाट्यशास्त्र’ का रचना-काल ईसा की छठवीं शताब्दी तथा कीच ने तीसरी शताब्दी माना है। इसके विपरीत डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने इसका रचना-काल ई० पू० दूसरी शताब्दी तथा श्री मनमोहन घोष ने

१- काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. २२

२- काणे, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. २२

ई. पू. पाँचवीं शताब्दी माना है। श्री घोष ने 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित विभिन्न विषयों के विवरणों का सूक्ष्म परीक्षण करके उसका काल निर्धारण किया है। अपने विवेचन के अन्त में श्री घोष लिखते हैं—

‘वी मे देयर फोर प्लेस दि नाट्यशास्त्र इन एवाउट फाइव हण्ड्रेड बी. सी.’^१

अर्थात् हम नाट्यशास्त्र को ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के आसपास रख सकते हैं। इस प्रसंग में उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' को कालिदास, भास तथा कौटिल्य का पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। कालिदास ने नाट्यशास्त्रकार भरत का नाम लेकर उल्लेख किया है^२। अतः 'नाट्यशास्त्र' का मौलिक रूप उनसे तो निश्चित ही पूर्ववर्ती है। साथ ही उसे भास तथा कौटिल्य से भी पूर्ववर्ती सिद्ध करने में श्री घोष ने बहुत ही पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जो स्वीकार्य ही प्रतीत होते हैं।

'नाट्यशास्त्र' के काल का विवेचन करते हुए श्री कन्हैयालाल पोद्दार कहते हैं^३ कि यद्यपि इसके काल की अन्तिम सीमा भास तक पहुँचती है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह और पहिले नहीं पहुँचती। उनके अनुसार चूँकि भास के पूर्व के काव्य नहीं मिलते, अतएव उसके पूर्व 'नाट्यशास्त्र' का उल्लेख भी नहीं मिलता। यदि ऐसे काव्य उपलब्ध होते, और उनमें 'नाट्यशास्त्र' का उल्लेख न होता तो ऐसी सम्भावना की भी जा सकती थी कि 'नाट्यशास्त्र' भास से अधिक पूर्व का नहीं है। इसके अभाव में 'नाट्यशास्त्र' को भास के काल तक ही सीमित रखना उन्हें उचित नहीं प्रतीत होता। उनका यह तर्क अनुचित भी नहीं कहा जा सकता।

श्री पोद्दार ने यह भी लिखा है कि 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्त केवल यवन आदि कतिपय शब्दों की नवीनता के आधार पर ही उसे अर्वाचीन नहीं माना

१- घोष, नाट्यशास्त्र १९६७ संस्करण, भूमिका-अंतिमपृष्ठ

२- विक्रमोर्वशीय, २-१८

३- संस्कृत साहित्य का इतिहास,
तृतीय संस्करण, पृ. ३७

जा सकता। यह बात भी उचित ही प्रतीत होती है, क्योंकि 'नाट्यशास्त्र' में बहुत-सा अंश बाद में भी जुड़ा ही है। इसी प्रकार का एक प्रश्न उठाकर बी. सी. सरकार ने भी लिखा है कि चूँकि 'नाट्यशास्त्र' में 'नेपाल' का उल्लेख है, और नेपाल शब्द का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त की चौथी वाताब्दी की एक प्रशस्ति में हुआ है। अतः 'नाट्यशास्त्र' उससे पूर्व का नहीं है। इसके उत्तर में श्री घोष ने कहा है कि ऐसा क्यों नहीं माना जा सकता, कि नेपाल शब्द का प्रयोग सर्व-प्रथम 'नाट्यशास्त्र' में ही हुआ है^१। अस्तु कुछ शब्दों को ही 'नाट्यशास्त्र' के काल-निर्धारण का आधार मानना कुछ कम ही उचित होगा।

'नाट्यशास्त्र' के काल-निर्धारण में प्रायः प्रत्येक विद्वान् ने कठिनाई का अनुभव किया है। उसे किसी निश्चित काल-विशेष में स्थिर करना कोई सरल बात नहीं प्रतीत होती। श्री पोद्दार ने तो बहुत ही स्थूल रूप में उसे वैदिक काल के बाद की, तथा पुराणों से पूर्व की रचना स्वीकार किया है, परन्तु इतना तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उसके मौलिक भाग की रचना की पूर्व सीमा भास के पूर्व तक पहुँच जाती है।

नाट्यशास्त्र से पूर्ववर्ती नाट्याचार्य

यद्यपि आज भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही अपने विषय के सर्वप्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है, परन्तु उसमें आये कतिपय उल्लेखों से उससे पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों के होने का भी संकेत मिलता है। ऐसे आचार्यों में तण्डु, कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य, दत्तिल, नखकुट्ट, अश्मकुट्ट, बादरायण तथा शालकर्ण का नाम लिया जा सकता है। नीचे इन पर कुछ विचार करने का प्रयास किया जा रहा है।

तण्डु—तण्डु का उल्लेख 'नाट्यशास्त्र' में दो रूपों में हुआ है। एक तो उनका उल्लेख भरत के सो पुत्रों में मिलता है, दूसरे भरत के ताण्डव नृत्त के शिक्षक के रूप में^२। तण्डु का परिचय देते हुए अभिनव ने लिखा है कि 'तण्डुमुनि शब्दो नन्दिभरतयोरपरनामनी' अर्थात् तण्डु, नन्दी का ही दूसरा नाम है।

१- डॉ० रघुवंश, नाट्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ७

२- घोष, ना. शा. १-२६, ४-१७

अभिनवगुप्त तथा शारदातनय दोनों ने नंदि-मत का उल्लेख किया है। अस्तु सम्भवतः भरत के पूर्व तण्डु अथवा नन्दी नाम के कोई नाट्याचार्य रहे होंगे। कुछ लोग अभिनयदर्पण के रचयिता नन्दिकेश्वर को यही नन्दी अथवा तण्डु समझते हैं, पर अभिनयदर्पण तो 'नाट्यशास्त्र' से परवर्ती रचना सिद्ध होती है।

कोहल, दत्तिल, शाण्डिल्य तथा वात्स्य—नाट्यशास्त्र में इन चारों आचार्यों का उल्लेख भरत के सौ पुत्रों में तो हुआ ही है, साथ ही उसके अन्तिम अध्याय में इन चारों को 'नाट्यशास्त्र' का प्रयोक्ता भी कहा गया है^१। इनमें से कोहल तथा दत्तिल इन दोनों के मतों के उद्धरण अभिनव ने अनेक स्थलों पर दिये हैं। उदाहरणार्थ नाट्य के ये ग्यारह अंगों के विवेचन में^२ अभिनव लिखते हैं कि नाट्य के ये ११ अंग कोहल के अनुसार हैं। इसके अतिरिक्त चतुर्थ अध्याय में एक स्थान पर 'यथोक्त' कोहलेन^३ कहकर उनके दो श्लोक भी दिये गये हैं। इसी प्रकार दत्तिल के भी मतों तथा छन्दों के उद्धरण अभिनव-भारती में उपलब्ध होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि कोहल तथा दत्तिल इन दोनों ने ही नाट्य सम्बन्धी कोई ग्रन्थ अवश्य लिखे होंगे। अभिनव-भारती में शाण्डिल्य तथा वात्स्य के कोई उद्धरण नहीं मिलते। अस्तु उनके नाट्याचार्य होने की कल्पना का आधार केवल इतना ही है कि 'नाट्यशास्त्र' में उक्त दोनों स्थलों पर इन चारों के उल्लेख साथ-साथ मिलते हैं। उदाहरणार्थ अन्तिम अध्याय में 'नाट्यशास्त्र' में इनका उल्लेख इस भाँति हुआ है—

कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्य धूर्तिलैः (दत्तिलैः)।

एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिबद्धं नम् ॥ ३६-७६

नलकुट्ट तथा अश्मकुट्ट—'नाट्यशास्त्र' में इन दोनों का उल्लेख भरत के पुत्रों के रूप में ही किया गया है, परन्तु अन्यत्र इनके उद्धरण दिये गये हैं। नलकुट्ट का उद्धरण तो विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में दिया है; और अश्मकुट्ट के उद्धरण

१- धोष, ना. शा. १-२६, ३६-७६

२- ना. शा. ६-१० पर अभिनव-भारती

सागरनन्दी के नाटक-लक्षण-रत्नकोश नामक ग्रन्थ में । इससे प्रतीत होता है कि इन्होंने नाट्य पर कुछ न कुछ अवश्य ही लिखा होगा ।

बादरायण—‘नाट्यशास्त्र’ में भरतपुत्रों की सूची में बादरायण का भी नाम आता है^१ । सागरनन्दी ने अपने नाटक-लक्षण-रत्नकोष में दो स्थलों पर इनके नाम देकर उद्धरण दिये हैं । अस्तु इनके द्वारा भी कोई नाट्यग्रन्थ लिखे जाने का अनुमान किया जाता है ।

उक्त आचार्यों के अतिरिक्त गिलालिद् तथा कुशाव्व नामक दो नट-सूत्र-कर्त्ताओं का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है^२ । अस्तु सम्भवतः इन दोनों ने भी नाट्य के कोई सूत्र ग्रन्थ लिखे होंगे, जो अब अप्राप्त हैं ।

कुछ अन्य अनिश्चित नाट्याचार्य

उपर्युक्त नाट्याचार्य तो सम्भवतः भरत के ‘नाट्यशास्त्र’ से पूर्ववर्ती ही प्रतीत होते हैं, परन्तु कतिपय मध्यकालीन नाट्य ग्रन्थों में कुछ अन्य भी पुराने नाट्याचार्यों के उद्धरण प्राप्त होते हैं । इनके परिचय के अभाव में यह अनुमान लगाना कठिन ही है कि ये कब हुए । वैसे अधिक सम्भावना यही प्रतीत होती है कि ये ‘नाट्यशास्त्र’ के उपरान्त मध्यकाल में ही कभी हुए होंगे । इनके विषय में सामान्य रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि इन्होंने भी नाट्य पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखे होंगे । ऐसे आचार्यों में सदाशिव, पद्मभू, द्रोहिणि, व्यास आञ्जनेय, कात्यायन, राहुल, गर्ग, शकलीगर्भ, घण्टक, मातृगुप्त तथा सुबन्धु का नाम लिया जा सकता है ।

सदाशिव—नाट्याचार्य रूप में इनका उल्लेख शारदातनय के भावप्रकाशन तथा घनञ्जय के दशरूपक में मिलता है । साथ ही अभिनव-भारती में इनका मत भी उद्धृत किया गया है । अस्तु प्रतीत होता है कि इन्होंने भी कोई नाट्य-ग्रन्थ लिखा होगा ।

१- घोष, नाट्यशास्त्र, १-३२

२- अष्टाध्यायी, ४-३-११०, १११

पद्मभू, व्रीहिणि, व्यास तथा आञ्जनेय—इन चारों का उल्लेख नाट्याचार्य के रूप में शारदातनय के भाव-प्रकाशन में मिलता है। यहाँ इनके कोई उद्धरण नहीं मिलते। अस्तु इनके द्वारा नाट्य ग्रन्थ लिखे जाने के अनुमान का कोई पुष्ट आधार नहीं प्राप्त होता।

कात्यायन, राहुल तथा शर्म—अभिनव ने 'नाट्यशास्त्र' के चौदहवें अध्याय की व्याख्या में कात्यायन का नाम लेकर उनके श्लोक उद्धृत किये हैं। साथ ही इनका उल्लेख सागरनन्दी ने अपने नाट्य-लक्षण-रत्नकोश में भी किया है। इससे प्रतीत होता है कि इन्होंने नाट्य पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा। अभिनव ने 'नाट्यशास्त्र' के चतुर्थ अध्याय की व्याख्या में राहुल का नाम लेकर उनके भी वचन उद्धृत किये हैं, तथा सागरनन्दी ने नाटक-लक्षण-रत्नकोश में इनका नामोल्लेख किया है। अतः ये भी किसी नाट्य-ग्रन्थ के रचयिता प्रतीत होते हैं। सागरनन्दी ने शर्म नामक नाट्याचार्य का भी उल्लेख किया है, पर इनका कोई उद्धरण प्राप्त नहीं होता।

शकलीशर्म तथा घण्टक—अभिनव-भारती में शकलीशर्म तथा घण्टक नामक विद्वानों का भी उल्लेख नाट्याचार्य-रूप में मिलता है। अतः उनके द्वारा भी नाट्य-ग्रन्थों के रचे जाने का अनुमान किया जाता है।

मातृगुप्त—अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका में राघवभट्ट ने मातृगुप्ताचार्य के कई श्लोक नाटक के पारिभाषिक शब्दों के प्रसंग में उद्धृत किये हैं। राजतरंगिणी में भी हर्ष-कालीन किन्हीं मातृगुप्त नामक कवि का उल्लेख मिलता है। अस्तु सम्भव है कि इन मातृगुप्ताचार्य ने नाट्य पर कोई स्वतंत्र ग्रन्थ रचा हो। सत्रहवीं शताब्दी में होने वाले सुन्दरमित्र ने अपने नाट्य-प्रदीप नामक ग्रन्थ में भरत के 'नाट्यशास्त्र' के पाँचवें अध्याय का एक श्लोक उद्धृत कर लिखा है कि—

अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यः उदाहृताः ।

इससे प्रतीत होता है कि इन्होंने 'नाट्यशास्त्र' की व्याख्या की थी। निश्चित प्रमाण के अभाव में यह कह पाना कुछ कठिन ही है कि इन मातृगुप्त का परिचय क्या है, तथा इन्होंने नाट्य-परक कोई स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा था।

सुबन्धु

शारदातनय ने अपने भाव प्रकाशन में एक स्थान पर नाट्याचार्य सुबन्धु का भी उल्लेख किया है। ये सुबन्धु कौन हैं, इसका पता नहीं चलता। यदि ये सुबन्धु वासवदत्ता के रचयिता होंगे, तो इनका काल पाँचवीं शताब्दी में ठहरता है।

इसके अतिरिक्त अग्निपुराण तथा विष्णु-धर्मोत्तर पुराण में भी नाट्य-विषयक विवेचन प्राप्त होता है, पर वह स्वतंत्र रचना न होकर भरत के नाट्य-शास्त्र से ही गृहीत प्रतीत होता है।

नाट्यशास्त्र से परवर्ती नाट्याचार्य

ऊपर नाट्यशास्त्र से पूर्ववर्ती तथा मध्यवर्ती जिन नाट्याचार्यों का विवरण दिया गया, उनमें से प्रायः किसी का भी कोई ग्रन्थ नहीं उपलब्ध होता। 'नाट्यशास्त्र' के परवर्ती काल में होने वाले अब ऐसे नाट्याचार्यों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया जा रहा है, जिसके ग्रन्थ प्रायः उपलब्ध हैं। प्रायः इन समस्त नाट्याचार्यों के ग्रन्थों का आधार 'नाट्यशास्त्र' ही रहा है। इन आचार्यों में धनञ्जय, सागरनन्दी, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, शारदातनय, शिङ्गभूपाल तथा रूप-गोस्वामी विशेष उल्लेखनीय हैं। नीचे इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१. धनञ्जय—धनञ्जय मालवा के परमार राजा मुञ्ज वाक्पति राजा द्वितीय के राजकवि थे। अस्तु इनका स्थिति काल दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम दशरूपक है, जो नाट्यशास्त्र के अध्याय सं० ६, २०, २१ तथा २२ पर आधारित है। इस ग्रन्थ में चार प्रकाशों के अन्तर्गत कथावस्तु, नायक-नायिका, वृत्तियों तथा रसों आदि का विवेचन किया गया है। इसमें नाट्य-रचना से ही सम्बद्ध विषय वर्णित हुआ है। इस ग्रन्थ का प्रचार पर्याप्त हुआ है।

दशरूपक की रचना कारिकाओं में की गई है। धनञ्जय के भाई धनिक ने दशरूपक की अवसोक नामक टीका लिखी है, जो इसकी अन्य कई टीकाओं से अच्छी मानी जाती है।

२. सागरनन्दी—इनका नाटक-लक्षण-रत्नकोश नामक ग्रन्थ १९३७ ई० में आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय से प्रकाशित हुआ है। इसकी रचना का आधार भी मध्यवर्ती तथा नाट्यशास्त्र ही है। इसके अन्तर्गत रूपक, उपरूपक वृत्ति, रस, भाव, अलंकार तथा नायक-नायिका आदि विषय वर्णित हैं। इसमें प्रसिद्ध कवि राजशेखर का भी उल्लेख मिलता है। अस्तु ये उनसे परवर्ती सिद्ध होते हैं। साथ ही अमरकोश के टीकाकार सुभूति ने रत्नकोश का उल्लेख किया है। इनका काल म्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा बारहवीं का पूर्वार्ध माना जाता है। इस प्रकार सागरनन्दी का काल दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा म्यारहवीं शताब्दी के अन्तर्गत कभी होना चाहिये।

रामचन्द्र गुणचन्द्र—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र ये दोनों मित्र हैं जिन्होंने मिलकर नाट्यदर्पण नामक ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ कारिकाओं में लिखा गया है। इस पर इन्होंने अपनी वृत्ति भी लिखी है। इसमें कई स्थलों पर धनञ्जय के मत का खंडन भी किया गया है। रामचन्द्र गुणचन्द्र दोनों ही जैन विद्वान् थे, तथा इनका काल बारहवीं शताब्दी माना जाता है।

शारदातनय—इनके ग्रन्थ का नाम भाव-प्रकाशन है, जो प्रकाशित है। यह एक विद्यालयाय नाट्य-ग्रन्थ है। इसमें नाट्य से सम्बन्धित प्रायः समस्त विषय वर्णित हैं। शारदातनय का काल बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के मध्य किसी काल में माना जाता है।

शिङ्गभूपाल—शिङ्गभूपाल का परिचय कुछ विवादास्पद-सा रहा है। वैसे सामान्य रूपसे इन्हें चौदहवीं शताब्दी में होने वाला माना जाता है। इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, एक नाटक-परिभाषा तथा दूसरा रसार्ण सुधाकर। इनमें से प्रथम नाट्य-परक है, तथा द्वितीय काव्यशास्त्र से सम्बन्धित।

रूपगोस्वामी—ये वैष्णव संत चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। इनका काल पन्द्रहवीं

शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सोलहवीं का पूर्वार्द्ध माना जाता है। वैसे इन्होंने अन्य ग्रन्थ भी लिखे हैं, पर इनका नाट्य-विषयक ग्रन्थ नाटक-चन्द्रिका है। इसमें भरत के 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार नाटक-सम्बन्धी विषयों का विवेचन हुआ है।

कहा जाता है कि व्यक्तिविवेक के टीकाकार आचार्य रुग्मक ने भी नाटक-मीमांसा नामक कोई नाट्य-ग्रन्थ लिखा था, परन्तु यह उपलब्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त कई अन्य आचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अन्तर्गत भी नाट्य-विषयक विवेचन प्राप्त होते हैं। ऐसे आचार्यों में राजा भोज, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ कविराज उल्लेखनीय हैं। भोज के शृंगार प्रकाश के बारहवें तथा सरस्वती-कण्ठाभरण के पाँचवें परिच्छेद में नाट्य-विषयक विवेचन मिलता है। चौदहवीं शताब्दी के आचार्य विद्यानाथ के ग्रन्थ प्रतापहृदयशोभूषण के तीसरे प्रकरण में नाटक-सम्बन्धी विवेचन किया गया है। प्रसिद्ध आचार्य विश्वनाथ कविराज के साहित्यदर्पण के छठवें परिच्छेद में संक्षेप में नाटक-विषयक विवेचन भी किया गया है। संस्कृत में की जाने वाली नाट्य-विषयक रचनाओं का यही संक्षिप्त विवरण है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित भारत

'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत उत्तर में नेपाल समेत हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण सागर तक तथा पूर्व में प्राग्ज्योतिष से लेकर पश्चिम में बाह्यलोक तक विस्तृत भारतवर्ष का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। इसके अन्तर्गत सिन्धु, सोवीर, सौराष्ट्र, अंग, बंग, मगध, कलिंग, औड्र (उड़ीसा), कोशल, धूरसेन, अवन्ति, द्रविड, आन्ध्र, मालव, आनर्त, अर्बुद, दाशार्ण, वत्स, पौण्ड्र, पांचाल, मद्रक, उशीनर तथा कश्मीर आदि अनेक प्रदेशों का वर्णन प्राप्त होता है। इसके साथ ही यहाँ हिमालय, कैलाश, हेमकूट, निषध, महामेरु, नील, श्वेतपर्वत, शृंगवान महेन्द्र, मलय, सह्य, मेकल, कालपंजर, तथा विष्वाचल आदि अनेक पर्वतों का भी वर्णन मिलता है। साथ ही यहाँ गंगा, चर्मण्वती तथा वेन्नवती आदि अनेक नदियों का भी वर्णन हुआ है। इससे स्पष्ट है कि भले ही उस काल में भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँटा रहा हो, पर उसे एक ही देश माना जाता था।

१- षोष, नाट्यशास्त्र, अध्याय १४, १७ तथा २० आदि

‘नाट्यशास्त्र’ न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों का ही वर्णन करता है, बरन् वहाँ के निवासियों तथा उनकी प्रवृत्तियों का भी वर्णन करता है।

एक स्थान पर ‘नाट्यशास्त्र’ कहता है कि यदि किसी रूपक में दिव्य कर्मों का प्रदर्शन करना अभीष्ट हो, तो उसका कार्य स्थल भारतवर्ष को ही बनाना चाहिये, अन्य देशों को नहीं। इस पर ‘नाट्यशास्त्र’ स्वयं प्रश्न करता है—

कस्माद् भारतमिष्टं वर्ण्यन्वेषु देव विहितेषु ? २०-६८

अर्थात् जब समस्त देश देव-निर्मित ही हैं, तो फिर भारत के विषय में ही यह आग्रह क्यों ? इसका उत्तर देते हुए ‘नाट्यशास्त्र’ कहता है:—

ये तेषामधिवासाः पुराणवादे च पर्वता गदिताः ।

सम्भोगस्तेषु भवेत्, कर्मरंभो भवेदस्मिद् ॥ २०-१००

अर्थात् अन्य देशों में तो प्रायः भोग ही किया जाता है। इसके विपरीत भारत में कर्म-साधना का प्राधान्य है। अतः कर्मभूमि होने के नाते कर्त्तव्यादि कर्मों का प्रदर्शन इसी भूमि से सम्बन्धित किया जाना उचित है। इस प्रकार यहाँ भारत भूमि के महत्व का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही उसके प्रति नाट्यशास्त्रकार के प्रेम का भी परिचय मिलता है।

नाट्यशास्त्र की कतिपय अन्य विशेषताएँ

नाट्य से सम्बन्धित अनेकानेक विषयों का जितना विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन ‘नाट्यशास्त्र’ में मिलता है, उतना सम्भवतः विश्व के किसी भी नाट्यग्रन्थ में नहीं मिलता। यद्यपि ग्रीस में भी नाट्य का प्रचार बहुत प्राचीन काल से ही रहा है, पर वहाँ भी इस प्रकार के विस्तृत विवेचन करने वाले ग्रन्थ का अभाव ही रहा। अस्तु प्रतीत यही होता है कि नाट्य-कला में भारत ही विश्व का अग्रणी रहा है। ‘नाट्यशास्त्र’ से भारत की विकसित एवं समुन्नत नाट्यकला का परिचय मिलता है। ग्रीक नाटकों में कथा वस्तु पर ही अधिक महत्व देकर आहार्याभिनय अर्थात् वेशभूषा तथा सजावट आदि को शीघ्र समझा गया है, तथा उनमें नृत्य, गीत, वाद्य आदि का

समन्वय भी नहीं मिलता। सौन्दर्य, आकर्षण तथा प्रभाव की दृष्टि से वेश-रचना तथा नृत्य-गीतादि नाट्य में कितने आवश्यक हैं, यह किसी से छिपा नहीं। अस्तु 'नाट्यशास्त्र' ने उन सबको सम्मिलित करके अपनी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय दिया है।

चतुर्विध अभिनयों, रसों, भावों, विभिन्न प्रकार के रूपकों, रंगमंच, कथावस्तु, पात्रों, नाट्य-धर्मों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों, भूमिकाओं एवं नाट्य की सफलताओं तथा असफलताओं आदि के विषय में जितना विस्तृत विवेचन 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है, उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ अकेले दृष्टि के ही द्वारा किये जाने वाले छत्तीस प्रकार के अभिनयों के लक्षण तथा उनकी प्रयोग-विधि बताना 'नाट्यशास्त्र' जैसे महाग्रन्थ का ही कार्य है। संस्कृत के भी परवर्ती नाट्यग्रन्थों में 'नाट्यशास्त्र' जैसी विशदता नहीं दृष्टिगत होती। इस प्रकार यह नाट्य का तो कोश ही बन गया है।

'नाट्यशास्त्र' में छन्द, अलंकार, व्याकरण, भाषाशास्त्र, स्वर, गीत, वाद्य, नृत्य, शिल्प, वास्तुकला तथा अनेक विषयों का भी वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त इसके अन्दर कला के साथ ही भारत की प्राचीन संस्कृति भी सुरक्षित मिलती है। अस्तु वह न केवल नाट्य का ही वरन् समूची ज्ञानराशि का ही कोश बन गया है।

दशरूपक आदि परवर्ती नाट्यग्रन्थ केवल नाट्य-रचना को ही दृष्टि में रखकर लिखे गये हैं। अर्थात् उनमें प्रायः ऐसे ही विषयों की प्रधानता है, जिनका ज्ञान प्राप्त करके नाट्यकार रूपकों की रचना कर सकता है। अभिनेताओं तथा सामाजिकों के लिये उपयोगी विषयों का उनमें प्रायः अभाव ही दृष्टिगत होता है। यह 'नाट्यशास्त्र' की एक विशेषता ही कही जायेगी, कि वह नाट्य-कार, अभिनेता तथा सामाजिक इन सभी के लिये उपयोगी विषयों का वर्णन करता है। इन तीनों में भी यहाँ प्रमुखता अभिनेताओं के उपयोगी विषयों को दी गई है। उदाहरणार्थ विभिन्न प्रकार के अभिनयों, पूर्व-रंग तथा नृत्य-गीतादि का वर्णन यहाँ अभिनेता को ही दृष्टि में रख कर किया गया है। यह 'नाट्य-शास्त्र' के प्रायोगिक दृष्टिकोण का परिचायक है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है^१ कि नाट्यवेद के दो अंग हैं, एक विधि दूसरा शास्त्र । उदाहरणार्थ 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित भित्तिकर्म-विधि (२-८३), द्वार-विधि (३-२२), आसारित-विधि (४-२८२), ताण्डव-प्रयोग-विधि (४-३२१) तथा पूर्वरंग-विधि (५-१७२) आदि अनेकों विधियाँ हैं । इसी प्रकार जिन स्थलों पर विधि लिग का प्रयोग करके कहा गया है कि अमुक बात इस प्रकार करनी चाहिये, उन्हें भी विधियाँ समझना चाहिये । 'नाट्यशास्त्र' ने इन विधियों के पालन पर जोर भी बहुत दिया है । उदाहरणार्थ—

यश्चेमं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।

प्राप्नोत्ययचयं घोरं तिर्यग्योनिञ्च यच्छति ॥ ५-१७३

अर्थात् जो विधि को त्यागकर मनमाने प्रयोग करता है, उसका अनिष्ट होता है । इस प्रकार यहाँ विधि की प्रधानता स्पष्ट है ।

डा० द्विवेदी के अनुसार विधि के अतिरिक्त 'नाट्यशास्त्र' का जो भाग शेष बचता है, वह शास्त्र है । उदाहरणार्थ रस तथा भावादि का विवेचन शास्त्र के अन्तर्गत आता है । डा० द्विवेदी विधि को तो प्रमुख रूप से अभिनेताओं के उपयोगार्थ मानते हैं, तथा शास्त्र को नाट्यकारों, सामाजिकों तथा अभिनेताओं सभी के उपयोगार्थ । इस प्रकार अनेकों प्रकार के पाठकों को लक्ष्य करके लिखे जाने के कारण 'नाट्यशास्त्र' अपने विशाल दृष्टिकोण का परिचय देता है ।

ऊपर विधि को प्रमुख रूप से अभिनेताओं के लिये उपयोगी कहा गया है । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह नाट्यकार तथा सामाजिक के लिये अनुपयोगी है । 'नाट्यशास्त्र' से परिचित प्रेक्षक अन्यो की अपेक्षा नाट्य का अधिक आनन्द ले सकता तथा उसके गुण-दोष जान सकता है; परन्तु यदि वह नाट्य-प्रयोग-विधि का भी ज्ञाता होगा, तो वह उक्त कार्य और उत्तम ढंग से कर सकेगा । जहाँ तक नाट्यकार का सम्बन्ध है, उसके लिये तो शास्त्र तथा प्रयोग-विधि दोनों के ही ज्ञान की उपयोगिता प्रेक्षक से अधिक है । कारण कि यदि नाट्यकार प्रयोग-विधि के ज्ञान से धूम्य होगा तो वह अभिनेय रूपक लिखने में कहीं तक सफल होगा, इसमें सन्देह ही रहेगा । अनेकों रूपक जो रंगमंच

की दृष्टि से अनुपयुक्त माने जाते हैं, उनके वैसे होने का कारण रचयिताओं का प्रयोग-विधि-विषयक अज्ञान ही होता है। इस प्रकार नाट्य-रचना के साथ ही नाट्य-प्रयोग-विधि का भी विस्तृत विवेचन करके 'नाट्यशास्त्र' ने समस्त नाट्यजगत का ही उपकार किया है।

'नाट्यशास्त्र' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सामान्यतः उसके सम्मुख ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्रादि समाज के सभी वर्गों का ध्यान समन्वित रूप से रहा है। विशेष रूप में उसमें पिछड़े हुए वर्ग के प्रति विशेष प्रेम प्रतीत होता है; क्योंकि उसमें कहा गया है—

न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।

तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सावर्वाणिकम् ॥ १-१२

अर्थात् नाट्यवेद का सृजन विशेष रूप से उन लोगों के ही शिक्षण तथा मनोरंजन के लिये हुआ है, जो वेद का लाभ नहीं उठा सकते। 'नाट्यशास्त्र' में नाट्यगृह बनाने के सन्दर्भ में जिन चार प्रमुख स्तंभों की गाड़ने की बात कही गई है, उनके नाम हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्रस्तम्भ^१। इससे भी 'नाट्यशास्त्र' की समन्वय-वृत्ति का परिचय मिलता है।

'नाट्यशास्त्र' में उसके पूर्व के बिखरे हुए नाट्य-सिद्धान्तों आदि के सुसमायोजन करने का तो सफल प्रयास किया ही गया है, साथ ही उसमें समाज की दृष्टि से हीन समझे जाने वाले नटों तथा अभिनेताओं आदि को प्रतिष्ठित स्थान दिलाने का भी प्रयास किया गया है। इस प्रकार उसके द्वारा नाट्य-कला का समुन्नयन तथा प्रतिष्ठापन तो हुआ ही है, साथ ही कुछ गलत ढंग की सामाजिक रूढ़ियों को दूर करने का भी सफल प्रयास हुआ है। इस प्रकार 'नाट्यशास्त्र' भारत के उन महाग्रन्थों में से एक है, जिन्होंने संसार में भारत के गौरव को बढ़ाया है।

चृत्तीय परिच्छेद

नाट्य उसकी उत्पत्ति तथा प्रयोजन

नाट्यशास्त्र में लोगों के किये हुये कार्यों के अनुकरण को ही सामान्य रूप से नाट्य कहा गया है। इसके प्रथम अध्याय में नाट्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—

देवानामसुराणाञ्च राज्ञां लोकस्य चैव हि ।

कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥ १-१२०

अर्थात् देवताओं, असुरों, राजाओं तथा शेष जनता द्वारा किये गये कार्यों का अनुकरण ही नाट्य कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में उल्लिखित अमृतमंथन नामक समवकार के प्रयोग के प्रसंग में कहा गया है कि—

तदन्तेऽनुकृतिर्वद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः । १-१७

अर्थात् देवों द्वारा दैत्यों पर विजय पाने का अनुकरण किया गया। इसप्रकार स्पष्ट है, कि यहाँ नाट्य के लिये सामान्यतः अनुकरण शब्द का प्रयोग किया गया है।

नाट्य के लिये अनुकृति शब्द का प्रयोग ग्रीस के भी प्राचीन विद्वानों ने किया है। ग्रीक विद्वान् सिसरो ने कहा है कि 'ड्रामा इज ए कापी आफ लाइफ' अर्थात् नाटक जीवन की अनुकृति है। इसी प्रकार दशरूपक में भी 'अवस्थानु-कृतिर्नाट्यम्' अर्थात् नायकादि चरित्रों की विभिन्न अवस्थाओं की अनुकृति ही नाट्य है, ऐसा कहा गया है। दशरूपक के टीकाकार धनिक ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि चतुर्विधि अभिनय के द्वारा नायकादि की अवस्थाओं की तादात्म्यापत्ति कराने वाली अनुकृति ही नाट्य है। इससे स्पष्ट है कि धनिक साधारण अनुकृति मात्र को नाट्य नहीं मानते, वरन् उसमें कुछ विशेषताओं का होना भी आवश्यक समझते हैं।

नाट्यशास्त्र में भी आगे मिलने वाली नाट्य-परिभाषाओं तथा नाट्यज्ञों

के विवेचन से ज्ञात होता है कि वह साधारण अनुकृति मात्र को नाट्य नहीं मानता, वरन् उस अनुकृति में कुछ वैशिष्ट्य की भी आवश्यकता का अनुभव करता है। उसके प्रथम अध्याय में हो नाट्य की परिभाषा देने वाला एक और श्लोक है, जो इस प्रकार है—

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।

सोऽज्ञाद्याभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते ॥ १-२१

अर्थात् लोक का सुखदुःखात्मक स्वभाव जब चतुर्विध अभिनयों द्वारा अभिनीत किया जाता है, तो उसे नाट्य कहते हैं। यहाँ अनुकरण के स्थान पर अभिनय शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट है कि नाट्य में साधारण अनुकरण मात्र न होकर अभिनय की प्रधानता रहती है। उदाहरणार्थ एक बालक द्वारा दूसरे बालक की चाल, बोली, तथा मुखाकृति आदि का अनुकरण करने पर लोभ क्षण भर को हँस भले ही दें, परन्तु उसे नाट्य नहीं कहा जा सकता। नाट्य में तो अभिनय-युक्त एवं कलात्मक अनुकृति ही अभीष्ट होती है। इस प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र ने जो लोक द्वारा किये गये कार्यों के अनुकरण को नाट्य कहा है, उसका तात्पर्य यह नहीं है, कि नाट्य केवल भूत-काल में किये गये यवार्थ कार्यों से ही सम्बद्ध रहता है, क्योंकि नाट्यशास्त्र ने कवि-कल्पित कार्यों के अनुकरण को भी नाट्य के अन्तर्गत माना है।

कुछ लोग अभिनय तथा अनुकरण को एक ही मानते हैं। नाट्यशास्त्र के विवेचन को देखने से यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता। किसी अन्य व्यक्ति के समान अंगों को हिलाना-डुलाना तथा बोलना या कार्य करना मात्र ही अभिनय नहीं कहा जा सकता। अभिनय के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र, आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक इन सभी प्रकार की विधियों पर जोर देता है। इससे स्पष्ट है, कि अभिनय करने में पात्र के लिये आंगिक-वाचिक आदि के अनुकरण के साथ ही वेश-रचना तथा तल्लीनता-पूर्वक भाव-प्रदर्शन भी अत्यन्त आवश्यक होता है। नाट्यशास्त्र में अभिनय के प्रसंग में कहा गया है, कि वह सामाजिकों के अन्दर अर्थों का नयन (सञ्चार) करके उन्हें रसानुभूति कराता है। अस्तु स्पष्ट है, कि अभिनय के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र का दृष्टिकोण रस-परक है। इस प्रकार यदि किसी अनुकृति से रसानुभूति न उत्पन्न होती हो, तो उसे अभिनय

नहीं माना जा सकता, भले ही वह कितनी ही वास्तविक अनुकृति क्यों न हो। इसीलिये नाट्यशास्त्र में मञ्च एवं दृश्य को हूबहू यथार्थ (रियलिस्टिक) बनाने के फेर में न पड़कर उसे रसानुबल बनाने की सलाह दी गई है। इस प्रक्रिया में नाट्यशास्त्र की प्रवृत्ति स्वाभाविकता और कलात्मकता के संयोग की ओर प्रतीत होती है।

अभिनय के प्रसंग में नाट्यशास्त्र अनेकों प्रकार के सांकेतिक वाक्यों, क्रियाओं तथा नाट्य-रुद्धियों का भी वर्णन करता है। उदाहरणार्थ जनांतिक, आकाशभाषित तथा स्वगत-भाषण आदि नाट्य-रुद्धियाँ ही हैं, जिनका प्रयोग अभिनय में किया जाता है। इन सभी को किसी मूल घटना अथवा कार्य का यथार्थ अनुकरण नहीं कहा जा सकता। अस्तु स्पष्ट है, कि नाट्यशास्त्र केवल अनुकरण को ही अभिनय अथवा नाट्य नहीं मानता। उसके अनुसार किसी वास्तविक या काल्पनिक कार्य का ऐसा कलात्मक अनुकरण ही नाट्य कहा जायगा, जो स्वाभाविक प्रतीत होने के साथ ही साथ प्रेक्षकों में रसानुभूति जाग्रत करने वाला हो।

नाट्य और नृत्त अथवा नृत्य, ये कुछ मिलते-जुलते शब्द प्रतीत होते हैं। अस्तु कुछ लोग इनको एक ही समझने की भूल कर सकते हैं; परन्तु ये भिन्नार्थक। नाट्य शब्द 'नट् अवस्पन्दने' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ किञ्चित्-चलन होता है। इसके विपरीत नृत्त अथवा नृत्य शब्द 'नृती गान-विशेषे' धातु से बनते हैं, जिसका अर्थ शरीर-चालन होता है। इस भाँति नृत्त के अन्तर्गत शरीर-पालन की ही प्रधानता होती है तथा नृत्य में भी शरीर-चालन द्वारा ही भाव-प्रदर्शन किया जाता है। इसके विपरीत नाट्य में शरीर-चालन गौण होता है, तथा सात्विक भावों का प्रदर्शन प्रधान। अस्तु नृत्त, अथवा नृत्य नाट्य से भिन्न वस्तु हैं। हाँ इतनी बात अवश्य है, कि नृत्त अथवा नृत्य नाट्य के उपस्कारक अर्थात् सौन्दर्य-वृद्धि के कारण अवश्य हैं। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय की प्रथम कारिका की व्याख्या में ही अभिनवगुप्त ने नृत्त को नाट्य का उपस्कारक कहा है। इसके अतिरिक्त नाट्य, नृत्त तथा नृत्य के विषय में विशद विवेचन दशरूपककार ने भी किया है, जो इन्हें अलग-अलग ही मानते हैं।

नाट्यशास्त्र में नाट्य के ग्यारह अंगों का विवरण अधोलिखित रूप में मिलता है—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्ति-प्रवृत्तयः

सिद्धिः स्वरस्तथातोद्य' गानं रङ्गशब्द सङ्ग्रहः ॥ ६-१०

अर्थात् रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रंग ये स्यारह नाट्य के अंग हैं। इन अंगों का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ में आगे यथास्थान दिया गया है। यहाँ नाट्य के जो दस प्रकार (रूपक) बताये गये हैं, वे सभी इन अंगों से युक्त रहते हैं।

उत्पत्ति

नाट्य की उत्पत्ति के विषय में नाट्यशास्त्र में एक कथा दी हुई है। कृत-युग की समाप्ति तथा त्रेता-युग के प्रारंभ में लोग ईर्ष्या, क्रोध, काम, लोभ तथा सुखदुःखादि से अभिभूत हो गये। उस समय इन्द्र-प्रमुख देवताओं ने ब्रह्माजी के पास जाकर निवेदन किया कि—

श्रीडनीयकमिच्छामो हव्यं भ्रव्यं च यद् भवेत् ॥ १-११

अर्थात् हम लोग एक ऐसा श्रीडनीयक अर्थात् मनोरंजन का साधन चाहते हैं, जो देखा भी जा सके और सुना भी। इस निवेदन को सुनकर ब्रह्मा ने समाधि लगा कर यह संकल्प किया—

धर्म्यमर्थं यशस्यं च सोपदेशं ससङ्ग्रहम् ।

भविष्यत्तच्च लोकस्य सर्वकर्मनुदर्शनम् ॥

सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्प-प्रवर्तकम् ।

नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥ १-१४, १५

अर्थात् मैं धर्म, अर्थ तथा यश को प्राप्त कराने वाले, शास्त्रों के उपदेश एवं ज्ञान-संग्रह से युक्त, समस्त कर्मों में भावी लोक का मार्गदर्शन करने वाले, समस्त शास्त्रों के अर्थ को व्यक्त करने वाले तथा समस्त शिल्पों को संरक्षण देने वाले नाट्य नामक पंचम वेद की इतिहास-सहित रचना कर रहा हूँ। इसके उपरान्त नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि—

अग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामम्यो गीतमेव च

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ १-१७

अर्थात् ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय, तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण किया। अपनी व्याख्या में इसे स्पष्ट करते हुए अभिनव-गुप्त लिखते हैं कि पाठ्य अर्थात् वाचिक अभिनय अथवा रूपकों का गद्य-भाग, गीत, अभिनय, तथा रस ये चारों नाट्य के प्रमुख अंग हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद में तीनों स्वरों से युक्त गद्य-भाग उपलब्ध है। अतः नाट्य के गद्य-भाग का उत्पत्ति-स्थल वही है। चूंकि सामवेद गीतात्मक है, अतः उससे गीत का ग्रहण किया गया है। अथर्ववेद में वर्णित ऋग्वेद द्वारा किये जाने वाले प्रदक्षिणा आदि कर्मों से आंगिक अभिनय, उनके लाल पगड़ी (लोहित उष्णीष) आदि पहिने के वर्णन से नेपथ्य-रूप आहार्य अभिनय, तथा कर्म-सम्पादन करने वालों के धैर्य आदि से मानसिक अर्थात् सात्विक अभिनय, का ग्रहण किया गया है। अथर्ववेद से रस की उत्पत्ति के विषय में अभिनव कहते हैं, कि अथर्ववेद के होता के अन्दर प्रथम तथा कम्प आदि अनुभावों, प्रथम और मारण क्रियाओं में क्रमशः प्रजा और शत्रु आदि आलम्बन विभाव तथा धृति एवं प्रमोद आदि व्यभिचारी भावों की स्थिति वर्णित है। अस्तु वहाँ विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का संयोग प्राप्त होने से रस का उत्पत्ति-स्थल अथर्ववेद माना गया है।

इस प्रकार ब्रह्मा ने वेदोपवेदों पर आधारित इस नाट्य रूप पञ्चम वेद की रचना की, जो समस्त वर्णों अर्थात् द्विजों एवं शूद्रों सभी के लिये था। नाट्य-रचना के अनन्तर ब्रह्मा ने इन्द्र से कहा कि मैंने इतिहास अर्थात् दशरूपकों की सृष्टि कर दी है। अब आप इसे कुशल देवताओं द्वारा प्रयुक्त करवाइये। इस पर इन्द्र ने ब्रह्मा से कहा कि देवता तो नाट्य-कर्म करने में असमर्थ हैं। अस्तु नाट्य-प्रयोग का कार्य ऋषियों को देना चाहिये। इस पर ब्रह्मा ने भरतमुनि से कहा कि आप पुत्रों-समेत इसका प्रयोग करें। इस आदेश के अनुसार भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों को विधिवत् नाट्य-शिक्षा प्रदान की। इसके अनन्तर भरतमुनि ने भारती, सात्वती, तथा आरभटी इन वृत्तियों पर आश्रित अभिनय किया। इस पर ब्रह्मा ने उनसे कौशिकी वृत्ति का भी संयोग करने को कहा। इस पर जब भरतमुनि ने यह कहा कि कौशिकी वृत्ति का अभिनय स्त्री-पात्रों के बिना असंभव है, तो ब्रह्मा ने अप्सराओं की सृष्टि करके उन्हें भरत को प्रदान किया। जब नाट्य-सम्बन्धी समस्त उपकरण प्रस्तुत हो गये, तब ब्रह्मा-जी ने भरत मुनि से कहा कि—

अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्तते ।

अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञः प्रभुज्यताम् ॥ १-५४

अर्थात् आगे इन्द्र का ध्वजमहोत्सव शीघ्र ही आने वाला है । उसी में इस नाट्य-संज्ञक वेद का प्रयोग करो ।

इस आदेश के अनुसार भरतमुनि ने नान्दी-पाठ के अनन्तर देवासुर-संग्राम में होने वाली देवताओं की विजय का अभिनय आरम्भ किया । इस पर देवता तो हर्षित हुए, परन्तु दैत्य रुष्ट हो गये । वे अभिनय में विघ्न करने लगे । ब्रह्मा ने उन्हें समझाने की चेष्टा की, परन्तु जब वे नहीं शान्त हुए तो नाट्यगृह की आवश्यकता का अनुभव किया गया । विष्वकर्मा द्वारा नाट्यगृह का निर्माण हो जाने पर विधिवत् रंगपूजा एवं रंग-रक्षक देवताओं की नियुक्ति की गई ।

इस सबके हो चुकने पर ब्रह्मा ने भरत को अपने द्वारा रचित अमृत-मन्थन नामक समवकार के अभिनय करने का आदेश दिया । इस प्रयोग में अपने द्वारा किये गये कार्यों तथा भावों का अभिनय देख कर देवता तथा दानव सभी हर्षित हुए ।

इसके उपरान्त एक समय ब्रह्माजी ने शिवजी को नाट्य दिखाने के हेतु भरत को आदेश दिया । अस्तु हिमालय के ऊपर भरत ने पूर्वरंग विधान-पूर्वक अमृतमन्थन समवकार तथा त्रिपुरदाह नामक ड्रम का प्रदर्शन किया । इन प्रयोगों को देखकर शिवजी परम प्रसन्न हुए तथा उन्होंने पूर्वरंग विधान में तांडव नृत्त को भी समाविष्ट करवाया । यही संक्षेप में नाट्य के उद्भव की कथा है, जो नाट्यशास्त्र के प्रथम एवं चतुर्थ अध्यायों में दी हुई है ।

नाट्य-शास्त्र में दी हुई इस कथा के कई विवरण कुछ अस्पष्ट-से हैं । उदाहरण के लिये यहाँ नाट्य, नाट्यशास्त्र तथा नाट्यवेद शब्द ऐसे भ्रामक रूप से प्रयुक्त हुए हैं कि यह समझना बड़ा कठिन हो गया है, कि वे समानार्थक हैं या भिन्नार्थक । ब्रह्मा ने जिस नाट्य-वेद की सृष्टि की थी, वह हृष्य और श्रव्य दोनों विशेषताओं से युक्त था । इससे नाट्यवेद का अर्थ दशरूपक प्रतीत होता है । ब्रह्मा द्वारा अमृतमन्थन नामक समवकार की रचना किये जाने से भी नाट्यवेद का यही अर्थ प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त ब्रह्मा द्वारा उदाहृत

नाट्यवेद का ही कथन यहाँ पर भरत नाट्यशास्त्र रूप में कर रहे हैं। इससे नाट्यवेद का अर्थ नाट्यशास्त्र अथवा नाट्य-विद्या का शास्त्र प्रतीत होता है। नाट्यशास्त्र के अन्त में ऋषिगण भरतमुनि से कहते हैं कि हमने आपके द्वारा वर्णित इस नाट्यवेद को ध्यान से सुना है। इसका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र ग्रन्थ के लिये ही नाट्यवेद शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु शास्त्रीय ग्रन्थ तो दृश्य कहां नहीं जा सकता। अस्तु सन्देह बना ही रहता है। अभिनव ने नाट्यवेद का अर्थ नाट्य-विद्या अथवा नाट्यकला करके इस सन्देह को दूर करने का प्रयास किया है। यह भी सम्भव हो सकता है, कि नाट्यवेद के अन्तर्गत नाट्य-रचना तथा प्रयोग से संबन्धित शास्त्र तथा रूपक दोनों ही सम्मिलित रहे हों।

नाट्य का भूतल पर अवतरण

नाट्य के उद्भव से सम्बन्धित उपर्युक्त कहानी स्वर्गलोक की है। यह नाट्य धरती पर कैसे अवतरित हुआ, इस की कथा नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में दी हुई है। इस प्रसंग में वहाँ दो कथाएँ वर्णित हैं। इनमें प्रथम कथा के अनुसार भरत के पुत्रों को अपने अभिनय-कौशल पर अभिमान हो गया था। एक बार उन्होंने मुनियों का ही अपमान कर डाला। इस पर मुनियों ने शाप दे दिया कि नाट्य का नाश हो जाय, तथा भरत-पुत्र शूद्र हो जायें। इस शाप को सुनकर देवताओं को नाट्य-नाश की चिन्ता हुई, और उन्होंने मुनियों से शाप को क्षमा करने की प्रार्थना की। मुनियों ने शाप को पूर्णतः तो क्षमा नहीं किया, पर उन्होंने इतना संशोधन अवश्य कर दिया कि नाट्य तो नष्ट नहीं होगा, परन्तु भरत-पुत्रों को तो शूद्र होना ही पड़ेगा।

नाट्यशास्त्र में वर्णित दूसरी कथा इस शाप के चरितार्थ होने का विवरण देती है। इसके अनुसार एक बार राजा नहुष इन्द्र-पद पा गये। जब उन्होंने स्वर्ग में नाट्य-प्रयोग देखा, तो उन्होंने देवताओं से कहा कि, अप्सराओं का यह नाट्य भूलोक में हमारे घर पर भी होना चाहिये। देवताओं ने नहुष को समझाया कि अप्सराएँ मानव-लोक में नाट्य नहीं कर सकतीं। देवताओं ने उन्हें यह भी सलाह दी, कि यह कार्य आप भरत और उनके पुत्रों को ले जाकर अवश्य करा सकते हैं। नहुष ने जाकर भरत से भूतल पर नाट्य प्रस्तुत करने की प्रार्थना की। इस पर भरत ने अपने पुत्रों को भूतल में जाकर नाट्य-प्रयोग

करने का आदेश देते हुए कहा कि आप लोग भूतल पर जावें, और जब आप वहाँ सुन्दर नाट्य-प्रयोग करेंगे, तो मैं आपके शूद्रत्व-सम्बन्धी शाप को समाप्त कर दूँगा। तब ब्राह्मण तथा राजा लोग आप से घृणा न करेंगे। यही नाट्य के भूतल पर अवतरण की कथा है।

इस कथा से प्रतीत होता है, कि नाट्य की उत्पत्ति के कुछ समय पश्चात् उसे गृहित समझा जाने लगा था। गौतम धर्म-सूत्र तथा मनुस्मृति आदि ने भी अभिनेता के साथ शूद्रवत् व्यवहार करने का विधान किया है^१। इस प्रकार के विधानों तथा उक्त कथा के वर्णन में सामञ्जस्य दृष्टिगत होता है। जैसा कि इस कथा में वर्णित है, भरत ने ही स्वयं अपने पुत्रों को शाप-मुक्त करने की बात कही है। इससे प्रतीत होता है कि नाट्य को गृहित पद से ऊँचे उठाकर प्रतिष्ठित करने का कार्य भरत ने ही किया होगा। नाट्यशास्त्र के प्रथम पाँच अध्याय देखने से प्रतीत भी यही होता है, कि ग्रन्थकार का लक्ष्य नाट्य के महत्त्व का प्रतिपादन करना तथा उसे सुप्रतिष्ठित करने का रहा है।

प्रयोजन

नाट्य शास्त्र में नाट्य की मांग लेकर जाने वाले देवगण ब्रह्मा से यही कहते हैं कि 'इस समय लोगों में ग्राम्य-प्रवृत्तियाँ तथा ईर्ष्या-द्वेषादि बढ़ रहे हैं, और वे सुखी-दुःखी रहने लगे हैं। अतः आप हमें एक ऐसा क्रीडनीयक अर्थात् मनोरञ्जन का साधन प्रदान करें, जो दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार का हो। इस पर ब्रह्मा ने नाट्यवेद की सृष्टि की। इससे स्पष्ट है, कि नाट्य का प्रयोजन मनोरञ्जन के साथ-साथ सदाचार-शिक्षण था। यह सदाचार-शिक्षण तो वेदों आदि द्वारा भी हो सकता था। इस पर नाट्यशास्त्र का कथन है कि—

न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।

तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ॥ १-१२

अर्थात् शूद्र जातियों द्वारा वेद का व्यवहार तो हो नहीं पाता। अस्तु एक ऐसे पञ्चम वेद की आवश्यकता है, जो समस्त वर्णों के लिए हो। तात्पर्य यह है कि एक तो शूद्रादि जातियों द्वारा वेद का समझना कठिन है, दूसरे वे उसके लिए अधिकृत भी नहीं हैं। अस्तु वेदादि शास्त्र सार्वजनीन न होकर कुछ

१- गौतम-धर्मसूत्र १५, ८ तथा मनुस्मृति ८-६५, १०२

लोगों को ही लाभान्वित करते हैं। अतः लोक-शिक्षण हेतु कोई ऐसा साधन चाहिए, जो सार्वजनीन हो, तथा मनोरञ्जन से युक्त भी हो, जिससे सभी लोग बिना किसी भेद-भाव के, सरलता से ही नहीं, बरन् आनन्द-पूर्वक आचार-शिक्षण भी प्राप्त कर सकें। इस वर्णन से नाट्यशास्त्र के सर्वकल्याणकारी उदार दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। नाट्योत्पत्ति के इस प्रयोजन को देखने से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत के अन्दर सार्वजनिक हित का चिन्तन किया जाता रहा है। नाट्यशास्त्र के रचयिता का यह एक सराहनीय एवं क्रान्तिकारी कदम कहा जा सकता है कि उसने नाट्य को पञ्चम वेद की मान्यता देकर प्रकारान्तर से शूद्रों को भी वेद का अधिकारी बना दिया है। इससे इस कुतर्क का भी निरास हो जाता है, कि प्राचीन भारतीय मनीषियों ने शूद्र जाति को पूर्णतः बहिष्कृत ही कर रखा था।

नाट्यशास्त्र को केवल अपने युग की ही आवश्यकता का ध्यान न होकर भावी-युग की आवश्यकताओं का भी ध्यान रहा है। वे लिखते हैं—

भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधा नराः ।

ये चापि हि भविष्यन्ति ते बाल्यश्रुतबुद्धयः ॥

बुद्धयः कर्म शिल्पानि वैबल्यं कलासु च ।

सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति ॥ १६-१५०; १५१

अर्थात् भावी-युग में मानव की बुद्धि में ह्रास हो सकता है। जब लोगों का बुद्धि-सामर्थ्य नष्ट हो जाता है, तब कलाओं तथा शिल्पों का भी नष्ट होना स्वाभाविक-सा होता है। अतः नाट्य के द्वारा कलादि का संरक्षण परमावश्यक है।

प्रथम नाट्य देवामुर-संग्राम के अभिनय में अपनी हार का प्रदर्शन देखकर दैत्य लोग ब्रह्मा से कहते हैं कि आप द्वारा उत्पन्न किये गये इस नाट्य का प्रयोजन तो देवताओं की प्रशंसा तथा हमारा अपमान प्रतीत होता है। इस पर ब्रह्मा उन्हें समझाते हुए कहते हैं, कि ऐसी बात नहीं है। नाट्य में तो देवता-दानव सभी के शुभ-अशुभ कर्मों तथा भावों का अनुकीर्तन लोकपदेश की दृष्टि से किया गया है वे और कहते हैं—

दुःखार्तानां भ्रमार्तानां शोकार्तानाम् तपस्विनाम् ।
 विश्रान्ति-जननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ १-११४
 धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि-विवर्धनम् ।
 लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ १-११५
 श्रुति स्मृति सदाचार परिशेषार्थं कल्पनम् ।
 विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ १-११६

अर्थात् यह नाट्य दुःखी, भ्रान्त, शोकार्त आदि लोगों के लिये विश्राम-जनक होगा। यह नाट्य धर्म, यश, आयु, हित एवं बुद्धि को बढ़ाने वाला तथा लोकोपदेश-कारी होगा। वेद स्मृति तथा सदाचार सम्बन्धी शास्त्रों में वर्णित न हो सकने वाले शेष अर्थ की परिकल्पना करने वाला यह नाट्य लोक विनोदकारी होगा। इसके साथ ही यहाँ नाट्य को शूरों में उत्साह, मूर्खों में बोध तथा उद्धिम्नों में धैर्य उत्पन्न करने वाला कहा गया है। अन्ततः यहाँ नाट्य को विभिन्न प्रकार के लोगों के लिये विभिन्न प्रकार से मनोरञ्जन, शिक्षण तथा आनन्द प्रदान करने वाला कहा गया है। अस्तु लोक-शिक्षण, लोक-रंजन तथा लोकानन्द आदि को नाट्य का प्रयोजन कहा जा सकता है। इस प्रसंग में नाट्यशास्त्र के भावों से मिलता-जुलता भाव कालिदास ने भी यह कह कर व्यक्त किया है—

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् (मालविकाग्निमित्र १-४)

नाट्य का क्षेत्र

नाट्यशास्त्र में नाट्य का क्षेत्र अत्यंत व्यापक माना गया है। उसके अनुसार नाट्य में कहीं तो धर्म रहता है, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शम, कहीं हास्य, कहीं युद्ध, कहीं काम एवं कहीं वध। नाट्य में समस्त शास्त्र, शिल्प एवं अनेकों प्रकार के कर्मों की समवेत स्थिति कही गई है। नाट्यशास्त्र का तो यह प्रसिद्ध वचन है कि—

न तज् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।

नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ १-११६

अर्थात् ऐसा कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कर्म संसार में है ही नहीं, जिसका प्रदर्शन नाट्य में न हो सकता हो। नाट्य के क्षेत्र की विचालता का यह वर्णन प्रायः उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

नाट्यगृह

पीछे कहा जा चुका है कि दैत्यों के उत्पात के कारण नाट्यशास्त्र में नाट्यगृह की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। नाट्यगृह से न केवल उपद्रवियों के उत्पातों से रक्षा होती है, बरन् वह शीतातप तथा वातादि से भी रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त नाट्य की जैसी शोभा नाट्यगृह के भीतर अभिनीत होने पर होती है, वैसी अन्यत्र सम्भव नहीं है। अतएव नाट्यशास्त्र नाट्यगृह को नाट्य की प्राथमिक आवश्यकता कहता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार विश्वकर्मा ने नाट्यगृह के तीन प्रकार के सन्निवेश बताए हैं—विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। इनमें से विकृष्ट आयताकार नाट्यगृह है, चतुरस्र वर्गाकार तथा त्र्यस्र त्रिभुजाकार। विकृष्ट नाट्यगृह को कुछ लोगों ने मण्डलाकार माना है^१, परन्तु नाट्यशास्त्र में उल्लिखित नाप के कारण यह ठीक नहीं प्रतीत होता। यहाँ इन तीनों प्रकार के नाट्यगृहों के ज्येष्ठ, मध्य तथा अवर ये तीन प्रमाण बताए गये हैं, तथा नाप के लिए हस्त तथा दण्ड के प्रयोग की बात कही गई है। हस्त का प्रमाण २४ अंगुल तथा दण्ड का प्रमाण ४ हाथ बताया गया है। ज्येष्ठ नाट्यगृह का प्रमाण १०८ हाथ, मध्यम का १४ हाथ तथा अवर का ३२ हाथ बताया गया है। ज्येष्ठ नाट्यगृह देवताओं के लिए, मध्यम राजाओं के लिए तथा अवर सामान्य जनता के लिए बताया गया है। इनमें से मध्यम प्रेक्षागृह की प्रशंसा करते हुए नाट्यशास्त्र कहता है—

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां प्रकृष्टं मध्यमम् स्मृतम् ।

तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्राव्यतरं भवेत् ॥ २.२१

अर्थात् कथोपकथन तथा गायन सरलता से सुना जा सकने के कारण मध्यम नाट्यगृह सर्वश्रेष्ठ होता है। मनुष्यों के लिए उपयुक्त नाट्यगृह का वर्णन करते हुए नाट्यशास्त्र कहता है कि—

चतुःषष्टिकरात् कुर्यात् दीर्घत्वेन तु मण्डपम् ।

द्वात्रिंशत्तं च विस्तारात् मर्त्यानां योजयेद्विह ॥२-१७॥

अर्थात् जो नाट्यगृह मनुष्यों के लिये हो, उसे ६४ हाथ लम्बा तथा ३२ हाथ चौड़ा बनाना चाहिये। नाट्यशास्त्र इससे बड़ा नाट्यगृह बनाने को मना करता है।

नाट्यशास्त्र के नाट्यगृह-वर्णन में पुनरुक्तियाँ तथा विसंगतियाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। इसी प्रकार यहाँ वर्णित बहुत सी बातें स्पष्ट नहीं हैं। नाट्यगृह-सम्बन्धी उक्त विवरण को देखने पर यह शंका बनी ही रहती है कि विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र यही क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर नाट्यगृह हैं, अथवा इन तीनों में से प्रत्येक के ज्येष्ठ मध्यम तथा अवर ये तीन प्रकार होते हैं। इस विषय में अभिनेत्र का मत है कि नाट्यगृह के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर ये तीन भेद आयत, वर्ग तथा त्रिकोणादि आकारों के कारण न होकर उनके परिमाण अर्थात् नाप के कारण होते हैं। अस्तु, विकृष्टादि प्रत्येक नाट्यगृह के ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर भेद माने जाने चाहिये। इस प्रकार नाट्यगृह के ६ प्रकार हो जाते हैं। चूँकि इनकी नाप हाथों और दण्डों द्वारा दो प्रकार से कही गई है, अतः नाट्यगृह के ६ प्रकार हाथों की नाप से, तथा ६ प्रकार दण्डों की नाप से हो सकते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर १८ प्रकार के नाट्यगृह हो सकते हैं।

नीचे हाथ की नाप वाले ६ प्रकार के नाट्यगृहों का विवरण दिया जा रहा है—

नाम	नाप	उपयोग
१. विकृष्ट ज्येष्ठ	९०८ × ६४ हाथ	देवताओं के लिए
२. विकृष्ट मध्यम	६४ × ३२ हाथ	राजाओं के लिए
३. विकृष्ट अवर	१२ × १६ हाथ	लोक के लिए
४. चतुरस्र ज्येष्ठ	१०८ × १०८ हाथ	देवताओं के लिए
५. चतुरस्र मध्यम	६४ × ६४ हाथ	राजाओं के लिए
६. चतुरस्र अवर	३२ × ३२ हाथ	लोक के लिए
७. त्र्यस्र ज्येष्ठ	१०८ हाथ की भुजा वाला समत्रिबाहु त्रिभुजाकार	देवताओं के लिए
८. त्र्यस्र मध्यम	६४ हाथ की भुजा वाला समत्रिबाहु त्रिभुजाकार	राजाओं के लिए
९. त्र्यस्र अवर	३२ हाथ की भुजा वाला समत्रिबाहु त्रिभुजाकार	लोक के लिए

इसी प्रकार दण्ड की नाप वाले नाट्यगृह भी ९ प्रकार के बनाये जा सकते हैं ।

आगे नाट्यशास्त्र में मनुष्यों के उपयुक्त नाट्यगृहों का वर्णन किया गया है । इसके अन्तर्गत क्रमशः विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र नाट्यगृह का विस्तृत वर्णन हुआ है ।

विकृष्ट नाट्यगृह

विकृष्ट (आयताकार) नाट्यगृह की निर्माण-विधि बताते हुए नाट्य-शास्त्र कहता है कि—

चतुःषष्टिकरान् कृत्वा द्विधा कुर्यात् पुनश्च तान् ॥२-३३॥

पृष्ठतो यो भवेद् भागो द्विधा भूतस्य तस्य तु ।

सममर्धविभागेन रंगशीर्षं प्रकल्पयेत् ॥२-३४॥

पश्चिमे तु पुनर्भागे नेपथ्यगृहमादिशेत् ॥२-३५॥

अर्थात् ६४ × ३२ हाथ भूमि नापकर, ६४ की लम्बाई को दो भागों में विभक्त करना चाहिए। इस प्रकार ३२ × ३२ हाथ के दो भाग बन जावेंगे। इनमें से अगले अर्धभाग को प्रेक्षकों के बैठने के लिए सुरक्षित रखता चाहिये। पिछले अर्धभाग को पुनः दो भागों में विभक्त करके १६ × ३२ हाथ के दो खण्ड कर लेना चाहिए। इन दोनों में से सबसे पिछले भाग में नेपथ्यगृह बनाना चाहिए तथा शेष बचे भाग में रंगशीर्ष।

इसके आगे नाट्यशास्त्र स्तम्भों, द्वारों तथा भित्तियों आदि की निर्माण-विधि का वास्तु-विधान के अनुसार वर्णन करता है। इसके पश्चात् मत्तवारणी का विधान अधोलिखित रूप में मिलता है—

रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी ।

अतुःस्तम्भसमायुक्ता रंगपीठप्रमाणतः ॥ २-६३

अध्यर्धहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी ।

उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रंगमण्डपम् ॥ २-६४

अर्थात् रंगपीठ के पार्श्व में मत्तवारणी बनाई जानी चाहिए। मत्तवारणी चार स्तम्भों से युक्त और नाप में रंगपीठ के बराबर तथा डेढ़ हाथ ऊँची होनी चाहिए। उन दोनों (?) के बराबर ऊँचा ही रंगमण्डप होना चाहिए। इससे आगे रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के विषय में नाट्यशास्त्र कहता है—

रंगपीठं ततः कार्यं विधिदृष्टेन कर्मणा ।

रंगशीर्षं तु कर्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम् ॥ २-६५

कार्यं द्वारद्वयं चात्र नेपथ्यगृहकस्य तु ॥ २-६६

अर्थात् इसके पश्चात् शास्त्रोक्त विधि से रंगपीठ का निर्माण होना चाहिए। रंगशीर्ष को षड्दारुक से युक्त होना चाहिए तथा नेपथ्यगृह में दो दरवाजे बनाने चाहिए। इसके अनन्तर रंगपीठ को शुद्ध शीशे के समान बराबर करने की बात कही गई है। अर्थात् उसमें कहीं ऊँचा कहीं नीचा भाग नहीं होना चाहिए।

नाट्यशास्त्र रंगशीर्ष में लकड़ी का सुन्दर काम करने की बात कहता है। उसके अनुसार यह कार्य कुशल शिल्पियों द्वारा सज्जा-सहित किया जाना

चाहिए। इस दार्ढ्यकर्म के अन्तर्गत अनेकों प्रकार की मूर्तियाँ तथा पुतलिकाएँ आदि भी बनाई जानी चाहिए।

नाट्यमण्डप की निर्माण-विधि बताते हुए नाट्यशास्त्र कहता है

कार्यः शैल गुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ।

मन्दवातायनो पेलो निर्वातो धीरशब्दभाक् ॥ २.८०

तस्मान्निवृत्तिः कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः ।

गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य भविष्यति ॥ २.८१

अर्थात् नाट्यमण्डप (प्रेक्षकों के बैठने का स्थान) पर्वत-कन्दरा के आकार वाला तथा दो भूमियों वाला होना चाहिए। ध्वनि को गम्भीर बनाने की दृष्टि से इसमें छोटी-छोटी खिड़कियाँ बनाई जानी चाहिए, तथा वायु का प्रवेश न होने देना चाहिए। शिल्पियों को नाट्यमण्डप वायु-शून्य ही बनाना चाहिए, जिससे कि पात्रों, गायकों तथा वाद्यों का स्वर गम्भीरता को प्राप्त कर सके।

नाट्यशास्त्र नाट्यगृह की दीवारों पर भित्तिलेख तथा सुधाकर्म करने की भी बात लिखता है, जो क्रमशः प्लास्टरिंग तथा पुताई प्रतीत होते हैं। इन पुती हुई दीवारों के ऊपर विभिन्न प्रकार के चित्र आदि बनाने का भी वर्णन यहाँ प्राप्त होता है। इन सब बातों का वर्णन विकृष्ट नामक नाट्यगृह के निर्माण के प्रसंग में किया गया है। इसके आगे चतुरस्र नाट्यगृह का वर्णन हुआ है।

चतुरस्र नाट्यगृह

मानवोचित चतुरस्र (वर्गाकार) नाट्यगृह का वर्णन करते हुए नाट्य-शास्त्र कहता है कि चतुरस्र नाट्यगृह को चारो ओर बत्तीस-बत्तीस हाथ के प्रमाण वाला बनाना चाहिए, तथा जो विधि, लक्षण मांगलिक कृत्य आदि विकृष्ट के सम्बन्ध में कहे गए हैं, उन सबको यहाँ भी किया जाना चाहिए। इस नाट्यगृह के निर्माण-प्रसंग में ईंटों से दीवार बनाने तथा लकड़ी और ईंटों से सीढ़ियों के आकार वाले एक हाथ ऊँचे पीठों (दर्शकों के बैठने का स्थान) के बनाने का भी उल्लेख हुआ है। इसके साथ ही यहाँ रंगपीठ में १०, नाट्य-मण्डप के भीतरी भाग में ६ तथा बाहरी भाग में ८, इस प्रकार कुल २४

स्तम्भों की स्थापना का भी विधान हुआ है। ईंटों की दीवार, एक हाथ उँचे पीठों तथा स्तम्भों आदि का वर्णन विकृष्ट अथवा श्यस नाट्यगृह के प्रसंग में न होकर केवल यहीं हुआ, है। परन्तु प्रतीत होता है कि इस प्रकार का विधान विकृष्ट तथा श्यस के भी विषय में रहा होगा। स्तम्भ-विधान के विषय में तो शङ्कुक आदि आचार्यों का भी यही मत है कि इसे विकृष्ट तथा श्यस नाट्यगृहों से भी सम्बन्धित समझना चाहिये, तथा इसकी योजना अपनी बुद्धि के अनुसार कर लेनी चाहिये^१।

चतुरस्र नाट्यगृह के नेपथ्यगृह से रंगपीठ में प्रवेश करने के लिए एक ही द्वार का विधान किया गया है, जो विकृष्ट-वर्णन के अनुसार नहीं है। इसके अतिरिक्त एक द्वार बाहर से नेपथ्यगृह में प्रवेश के लिये तथा दूसरा रंगपीठ के सामने प्रेक्षकों के प्रवेश के लिये कहा गया है। यहाँ यह भी कहा गया है कि इसका रंगपीठ आठ हाथ का चौकोर होना चाहिए तथा उसके पार्श्व में उसी की नाप की मत्तवारणी बनाई जानी चाहिए। रंगपीठ इसी की ऊँचाई का अथवा इससे कुछ भी ऊँचा भी हो सकता है। आपताकार नाट्यगृह में वह ऊँचा तथा वर्णाकार में सामान ऊँचाई वाला होना चाहिए। चतुरस्र नाट्यगृह के विषय में प्रायः यही संक्षिप्त वर्णन यहाँ मिलता है।

श्यस नाट्यगृह

श्यस नाट्यगृह का वर्णन करते हुए नाट्यशास्त्र कहता है कि इसकी योजना त्रिभुजाकार में की जानी चाहिये। इसके मध्यकोण (शीर्षकोण) में रंगपीठ बनाया जाना चाहिए। इसके एक कोण पर प्रेक्षकों के प्रवेश के लिए दूसरा एक द्वार रंगपीठ के पीछे बनाया जाना चाहिये। भित्तियों तथा स्तम्भों का जो विधान चतुरस्र के प्रसंग में बताया गया है, वह यहाँ भी होना चाहिए। इससे अधिक इसका विशेष विवरण यहाँ नहीं दिया गया है। अंत में नाट्यशास्त्र कहता है कि नाट्यगृह का निर्माण चतुर जनों द्वारा किया जाना चाहिए। संक्षेप में यही नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्यगृह-विधान है।



नाट्यशास्त्र में नाट्यगृह-वर्णन से सम्बन्धित द्वितीय अध्याय में अस्पष्ट तथा परस्पर-विरोधी वचनों के बाहुल्य से उसका वास्तविक मन्तव्य समझना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है सम्भवतः यह कठिनाई अब से एक हजार वर्ष से भी पूर्व होने वाले नाट्यशास्त्र-व्याख्याताओं के भी सामने रही है। कारण कि नाट्यगृह सम्बन्धी अनेक विषयों के बारे में अभिनवगुप्त जैसे विद्वान् भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह पाते। आगे नाट्यगृह सम्बन्धी कुछ संदिग्ध विषयों पर विचार करने का प्रयास किया जा रहा है।

दण्ड की नाप

एक ओर तो नाट्यशास्त्र हाथों की नाप वाले नाट्यगृह की मध्यमकोटि का समर्थन करके उससे अधिक बड़े नाट्यगृह बनाने का निषेध करते हैं, और दूसरी ओर दण्ड की नाप से भी नाट्यगृह बनाने का विधान करते हैं। दण्ड, हाथ का चौगुना होता है। इसके अनुसार बनाए जाने वाले नाट्यगृह बहुत ही बड़े होंगे। इसका समाधान अभिनव ने 'अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्' का उदाहरण देकर किया है। बारह वर्ष में पूर्ण होने वाले यज्ञ सत्र कहलाते हैं, तथा सौ अथवा सहस्र वर्षों में पूर्ण होने वाले यज्ञ, दीर्घसत्र वेदोत्तर काल में प्रचलित नहीं रह सके, परन्तु ग्रन्थों में उनका वर्णन इसलिए होता रहा है कि उनकी जानकारी लोगों को बनी रहे, तथा भविष्य में यदि कोई उनका करने वाला निकल ही आये, तो उसे उनका विधान प्राप्त हो सके। अभिनव के मत में दीर्घसत्र-वर्णन की भाँति ही नाट्यशास्त्र में दण्डाश्रित नाट्यगृहों का विधान हुआ है।

इस प्रसंग में प्रो० सुखाराव^१ दण्ड की नाप वाले नौ भेदों को अलग से नहीं स्वीकार करते। उन्होंने नाट्यशास्त्र के वाक्य 'हस्तदण्डसमाश्रयम्' में प्रयुक्त हस्तदण्ड शब्द का अर्थ 'एक हाथ का दण्ड' माना है, और इसके प्रमाण में डॉ. पी. के. आचार्यकृत 'डिक्शनरी ऑव हिन्दू आर्किटेक्चर' को प्रमाण-रूप में उद्धृत किया है। अस्तु एक ही हाथ का दण्ड मानने की मूल कल्पना डॉ. आचार्य की ही प्रतीत होती है, पर वह उचित नहीं प्रतीत होती। कारण यही है, कि

नाट्यशास्त्र में नाट्यगृह के प्रसंग में दण्ड की नाप 'चतुर्हस्तो भवेद् दण्डः' इस प्रकार स्पष्ट रूप में बताई गई है। इस स्पष्ट उल्लेख के होते हुए भी डा. आचार्य तथा प्रो० सुब्बाराव जैसे लोगों ने दण्ड का जो दूसरा अर्थ लगाया है, उसका कारण यही प्रतीत होता है कि ये अत्यधिक बड़े (दण्डाश्रित) नाट्यगृह-वर्णन के औचित्य को स्वीकार नहीं करते, परन्तु यह नाट्यशास्त्र के वर्णन के विपरीत प्रतीत होता है।

हस्त और दण्ड के नाप के विषय में आचार्य विश्वेश्वर ने अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में एक और समाधान प्रस्तुत किया है। उन्होंने हस्त और दण्ड को फुट और गज की भाँति भिन्न परिमाण के पैमाने माना है और कहा है कि कोई वस्तु गज अथवा फुट दोनों से नापी जा सकती है। उदाहरणार्थ ४ गज भूमि नापनी हो तो उसे बार बार में गज से भी नापा जा सकता है, और बारह बार में फुट से भी। इसी भाँति सम्भवतः नाट्यशास्त्र का भी यही मन्तव्य है कि ६४ हाथ भूमि को चाहे ६४ बार में हाथ से नापा जाय, चाहे १६ बार में दण्ड से। इस प्रकार दण्डाश्रित अति-विशाल नाट्यगृह बनने की अस्वाभाविकता नष्ट हो जायगी, और केवल नौ प्रकार के हस्ताश्रित नाट्यगृह ही होंगे। इस प्रकार इस विषय में अभिनव अथवा विश्वेश्वर का मन्तव्य स्वीकार लेने में कोई विशेष अस्वाभाविकता नहीं रह जाती।

मध्यम नाट्यगृह सम्बन्धी असङ्गति

नाट्यशास्त्र मध्यम परिमाण वाले नाट्यगृहों की प्रशंसा करते हुए कहता है—

प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते । २.२१

अपनी इस मान्यता के आधार पर ही वह विकृष्ट मध्यम अर्थात् ६४×३२ हाथ वाले नाट्यगृह का विस्तार से वर्णन करता है। परन्तु इसके आगे जब वह चतुरस्र नाट्यगृह का विवरण प्रस्तुत करता है, तो उसके चारों ओर बत्तीस-बत्तीस हाथ का ही परिमाण बताता है। इस परिमाण वाला चतुरस्र नाट्यगृह मध्यम प्रकार का न होकर अवर टहरता है। इससे संदेह होता है कि नाट्यशास्त्र अपनी मध्यम-सम्बन्धी मान्यता से दूर हटता है।

इस पर यद्यपि अभिनवगुप्त ने ज्येष्ठ प्रकाश नहीं डाला, परन्तु कई आधुनिक विद्वानों ने इस विषय को उठाकर इसका समाधान करने का प्रयास किया है। इस विषय में प्रो० मनकद^१ का कथन है कि ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर ये तीनों परिमाण क्रमशः १०८, ६४ तथा ३२ हाथ से प्रारम्भ होते हैं। विकृष्टादि नाट्यगृहों में से विकृष्ट तो ज्येष्ठ परिमाण का है, चतुरस्र मध्यम परिमाण का है तथा त्र्यस्र अवर परिमाण वाला है। अतः विकृष्ट ज्येष्ठ १०८×६४ हाथ का तथा विकृष्ट मध्यम ६४×३२ हाथ का होगा। इसी भाँति मध्यम परिमाण वाला होने के कारण चतुरस्र ज्येष्ठ ६४×६४ हाथ का तथा चतुरस्र मध्यम ३२×३२ हाथ का होगा। अस्तु नाट्यशास्त्र में जिस चतुरस्र का विस्तृत वर्णन हुआ है उसे मनकद साहब मध्यम ही सिद्ध कर देते हैं। इसी प्रकार की मान्यता प्रो० सुब्बाराव की भी है। इन विद्वानों की इस मान्यता का आधार नाट्यशास्त्र का अधोलिखित श्लोक है—

कनीयस्तु स्मृतं त्र्यस्रं, चतुरस्रं तु मध्यमम् ।

ज्येष्ठं विकृष्टं विज्ञेयं, नाट्यवेदप्रयोक्तृभिः ॥ २-११ के उपरान्त इस श्लोक में विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र को क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम तथा अवर कहा गया है, परन्तु यह श्लोक प्रक्षिप्त माना जाता है, कारण कि इस पर अभिनव की व्याख्या नहीं है। अस्तु इसे प्रमाण मानना कुछ कम उचित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त उक्त महानुभावों ने जो आकार के अनुसार ज्येष्ठता आदि मानकर तीनों प्रकार के नाट्यगृहों का आरम्भ क्रमशः १०८, ६४ तथा ३२ हाथ से माना है, इसका भी कोई आधार नहीं प्रतीत होता। इन्होंने सम्भवतः यह खींचतान इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर की है, ताकि नाट्यशास्त्र में विस्तार से वर्णित ३२×३२ हाथ वाले चतुरस्र को मध्यम सिद्ध किया जा सके।

यदि उपर्युक्त मान्यता के आधार पर आकार को ज्येष्ठता आदि का भेदक स्वीकार कर लिया जाता है, तो फिर नाट्यगृह के ९ न होकर तीन ही प्रकार रह जायेंगे। इस विषय में अभिनव जैसे प्राचीन विद्वान् ने ज्येष्ठता आदि का भेदक आकार को न मानकर परिमाण को ही माना है, तथा इसी आधार

पर नाट्यगृह के नौ भेद भी माने हैं। परिमाण को ही भेदक मानकर नाट्यगृह के नौ भेद मानने वाली बात अधिक स्वाभाविक भी प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त प्रो. मनकद के अनुसार यदि ३२×३२ हाथ वाले चतुरस्र नाट्यगृह को मध्यम मान भी लिया जावे, तो, फिर यदि उसका कोई अवर भेद बनेगा भी तो वह १६×१६ हाथ का ही हो सकेगा, जो सम्भवतः नाट्यशास्त्र के वर्णन के अनुरूप न होगा! अस्तु ३२×३२ हाथ वाले चतुरस्र नाट्यगृह को मध्यम मानना कुछ कम ही उचित प्रतीत होता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार ३२×३२ हाथ वाला चतुरस्र नाट्यगृह वस्तुतः अवर ही प्रतीत होता है। जैसा कि पहिले यह संदेह उठाया गया है कि मध्यम नाट्यगृह की उपादेयता पर बल देने तथा विकृष्ट मध्यम नाट्यगृह का विस्तृत वर्णन करने के पश्चात् भी नाट्यशास्त्र चतुरस्र के विस्तृत वर्णन के प्रसंग में ३२×३२ हाथ वाले अवर नाट्यगृह का विवेचन क्यों करता है, इसका उत्तर नाट्यशास्त्र के ही अधोलिखित श्लोक प्रदान करते हैं—

चतुःषष्टिकरान् कुर्यात् दीर्घत्वेन तु मण्डपम् ।

द्वात्रिंशत् च विस्तारान् मर्यानां योजयेद्विह ॥ २.१७

अत ऊर्ध्वं न कर्तव्यः कर्तृभिनटियमण्डपः ॥ २.१८

अर्थात् मनुष्यों के लिए ६४×३२ हाथों से बड़े परिमाण वाला नाट्यगृह नहीं बनाया जाना चाहिए। कारण कि बड़े नाट्यगृह में अभिनय के देखने-सुनने में कठिनाई हो जाती है। अतः अपनी इस व्यवस्था के अनुसार ही नाट्यशास्त्र अवर चतुरस्र का ही विवरण देता है, मध्यम चतुरस्र अर्थात् ६४×६४ हाथ वाले का नहीं। कारण कि यह तो ६४×३२ हाथ वाले नाट्यगृह से पूरा दूना ही हो जाता, जो अनुपयुक्त कहा जा चुका है। इस प्रकार इस सन्देह का निराकरण किया जा सकता है।

नाट्यगृह और उसके भागों के नाम

नाट्यशास्त्र में नाट्यगृह तथा उसके भागों के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ नाट्यगृह, नाट्यवेश्म, नाट्यमण्डप, प्रेक्षागृह, रंगशाला, रंगमण्डप, रंगभूमि, रंगशीर्ष, रंगपीठ, नेपथ्यगृह तथा मत्तवारणी

आदि शब्द यहाँ प्रयुक्त किये गये हैं। इनमें से नेपथ्यगृह का अर्थ तो स्पष्ट है कि वह रंगमञ्च के पीछे बना हुआ कक्ष है, जहाँ पात्रों की सज्जा होती है तथा अन्य साज-सामान आदि रखा जाता है। शेष शब्दों का अर्थ कुछ अस्पष्ट-सा है। सम्भवतः नाट्यशास्त्र के काल में ये शब्द बहुप्रचलित रहे होंगे, और इनका ठीक अर्थ भी सामान्य रूप से समझा जाता रहा होगा। अतएव बिना कोई विशेष स्पष्टीकरण किये ही नाट्यशास्त्र में इनका प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त शब्दों के प्रयोग का प्रसंग देखने पर प्रतीत होता है कि नाट्यगृह, नाट्यवेश्म, और नाट्यमण्डप इन शब्दों का प्रयोग अङ्गीरूप अर्थात् सम्पूर्ण नाट्यगृह के लिये हुआ है। इसी भाँति रंगशाला, रंगमण्डप तथा प्रेक्षागृह का प्रयोग दर्शकों के बैठने के स्थान (ऑडिटोरियम) के लिए किया गया प्रतीत होता है। रंगभूमि सम्भवतः मञ्च (स्टेज) के लिए प्रयुक्त हुआ है।

रंगपीठ तथा रंगशीर्ष ये दोनों मंच के ही दो भाग प्रतीत होते हैं, तथा मत्तवारणी इनके पार्श्व में स्थित भाग, परन्तु इन तीनों के विषय में पर्याप्त मतभेद होने से इन पर अलग से कुछ अधिक विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

रंगपीठ तथा रंगशीर्ष

इस प्रसंग में नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय के श्लोक ३३-३४ की व्याख्या में अभिनव कहते हैं—

चतुःषष्टिहस्तं दध्यति, विस्ताराच्च द्वात्रिंशत्करं क्षेत्रं गृहीत्वा मध्ये सूत्रं विस्तरेण दद्यात्। तत्र यत् प्रयोक्तुः पृष्ठगं भविष्यति, तदेव पृष्ठम्। तस्य मध्ये पुनर्विस्तरेण सूत्रं दद्यात्। ततः षोडशहस्तौ द्वौ भागौ भवतः तत्राग्रगतं भागमर्धेन विभज्य रंगपीठं मुख्यं, ततोऽष्टहस्तं रंगशिरः प्रविशतानां पात्राणां चान्तःस्थानं नाट्यमण्डपस्य ह्युत्तानवदवस्थितस्य शिरः। तत्पृष्ठे वैहयाद्वि षोडशहस्तं नेपथ्य-गृहं भवति। विस्तारात् द्वात्रिंशत्करमेव।

अर्थात् ६४×३२ हाथ के क्षेत्र को बीच से आधा करके ३२×३२ हाथ के दो भाग कर लें। इन भागों में से जिधर पात्रों की पीठ रहती है,

ऊपर वाले भाग के १६×३२ हाथ के पुनः दो विभाग करे। इन दोनों विभागों में से आगे वाले विभाग के पुनः ८×३२ हाथ के दो अनुभाग कर ले। इनमें से सबसे आगे वाले ८×३२ हाथ के अनुभाग में रंगपीठ तथा पीछे वाले ८×३२ हाथ के अनुभाग में रंगशीर्ष बनावे। यह रंगशीर्ष नेपथ्य से रंगपीठ पर आने वाले पात्रों के लिए एक बीच का स्थान होता है, तथा यह उत्तान सोये हुए मनुष्य के समान नाट्यगृह के सिर की भाँति होता है। इसके पीछे १६×३२ हाथवाले विभाग में नेपथ्यगृह बनता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अभिनव रंगपीठ तथा रंगशीर्ष को नाट्यगृह के दो अलग-अलग भाग मानते हैं। इस प्रकार मंच का अगला भाग रंगपीठ कहा गया है, जहाँ पात्रगण अभिनय करते हैं तथा पिछला भाग रंगशीर्ष है, जहाँ वादकगण वाद्यों के साथ बैठते हैं, तथा जो पात्रों के विश्राम तथा रंगपीठ की शोभा के लिये बनाया जाता है। अभिनव के अनुसार रंगशीर्ष से एक प्रयोजन और सिद्ध होता है कि मञ्च पर प्रवेश करनेवाले पात्र सहसा प्रेक्षकों की दृष्टि से बचे रहते हैं। प्रो. मनकद आदि विद्वानों ने भी रंगपीठ तथा रंगशीर्ष को अलग ही माना है, परन्तु कुछ लोग ऐसा न मानकर रंगपीठ तथा रंगशीर्ष को एक ही मानते हैं। इनको एक मानने वालों में से नाट्यशास्त्र के सम्पादक तथा अंग्रेजी अनुवादक श्री मनमोहन घोष के विचार नीचे दिये जा रहे हैं।

श्री घोष का मत

श्री घोष ने अपने एक लेख^१ में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नाट्यशास्त्र में वर्णित रंगपीठ तथा रंगशीर्ष अलग-अलग न होकर पर्यायवाचक शब्द ही हैं। इसके प्रमाण के रूप में वे कहते हैं कि नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में जहाँ ब्रह्मा ने नाट्यगृह के विभिन्न भागों की रक्षा-व्यवस्था की है, उसमें केवल रंगपीठ का ही उल्लेख है, रंगशीर्ष का नहीं। इसके अतिरिक्त द्वितीय अध्याय के विकृष्ट नाट्यगृह-वर्णन में जहाँ नाप के अनुसार स्थान-विभाजन किया गया है, वहाँ रंगपीठ का उल्लेख न होकर केवल रंगशीर्ष का ही उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

१-इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (कलकत्ता) खण्ड ९, पृ० ५६१

सममर्धविभागेन रंगशीर्षं प्रकल्पयेत् । २.३३

साथ ही द्वितीय अध्याय के ७२, ७३ तथा ७५ वें श्लोकों में पुनः केवल रंगशीर्ष का ही उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि जिस स्थान को प्रथम अध्याय में रंगपीठ कहा गया है, उसे ही द्वितीय अध्याय के विद्वष्ट नाट्यगृह-वर्णन में रंगशीर्ष कहा गया है। इसके अतिरिक्त द्वितीय अध्याय के ७३ वें श्लोक के पाठ में किसी-किसी प्रति में 'रंगशीर्षं प्रशस्यते' के स्थान पर 'रंगपीठं प्रशस्यते' शब्द भी मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र का कोई प्राचीन पाठक भी रंगशीर्ष तथा रंगपीठ में भेद नहीं मानता था। इसके अतिरिक्त द्वितीय अध्याय के अन्य नाट्यगृह-वर्णन में भी केवल रंगपीठ का ही उल्लेख है, रंगशीर्ष का नहीं। इसी भाँति द्वितीय अध्याय के चतुरस्र नाट्यगृह-वर्णन में चार स्थलों पर रंगपीठ तथा एक स्थान पर रंगशीर्ष का प्रयोग मिलता है। जहाँ रंगशीर्ष का उल्लेख है, उसके पाठान्तर में रंगपीठ शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। अस्तु इस पूरे वर्णन में केवल रंगपीठ शब्द का ही प्रयोग माना जाना चाहिए। इस प्रकार सिद्ध होता है कि रंगपीठ तथा रंगशीर्ष दोनों भिन्न न होकर पर्यायवाचक शब्द ही हैं, जो मञ्च का अर्थ व्यक्त करते हैं।

रंगपीठ तथा रंगशीर्ष इन दोनों को एक ही मान लेने के परिणामस्वरूप घोष महोदय ने एक तो मञ्च पर यवनिका की स्थिति नहीं मानी, दूसरे रंगपीठ आदि की नाप में भी कुछ अन्तर कर दिया है। उन्होंने अभिनव के अनुसार रंगपीठ तथा रंगशीर्ष के बीच में यवनिका (परदा) की स्थिति न मानकर नेपथ्य के द्वारों पर लगे परदों को ही यवनिका मान लिया है। इसी भाँति अभिनव के अनुसार नाट्यगृह के $\frac{1}{2}$ भाग में प्रेक्षकों के बैठने का स्थान, $\frac{1}{4}$ भाग में नेपथ्य, $\frac{1}{4}$ भाग में रंगपीठ तथा $\frac{1}{4}$ भाग में रंगशीर्ष न मानकर उन्होंने नाट्यगृह के $\frac{1}{2}$ भाग में प्रेक्षकों के बैठने का स्थान, $\frac{1}{4}$ भाग में नेपथ्यगृह तथा $\frac{1}{4}$ भाग में रंगपीठ माना है। इस प्रकार के स्थान-विभाजन के अधिक व्यावहारिक होने के कारण श्री घोष ने इसे ही नाट्यशास्त्रानुसारी विभाजन मान लिया है।

श्री घोष के मत की आलोचना

प्रो. मनकद तथा डॉ. राघवन^१ ने घोष महोदय के उक्त मत को अस्वी-

१-इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (कलकत्ता) १९३३,

क्रमशः पृष्ठ ९७३ तथा ९९१

कार करते हुए उसकी आलोचना की है। इन लोगों ने श्री घोष की इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया कि नाट्यशास्त्र में यदि कहीं रंगपीठ का वर्णन हो, तो वहाँ रंगशीर्ष का भी वर्णन होने पर ही इन दोनों को अलग माना जा सकता है। रंगपीठ और रंगशीर्ष ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, इसके समर्थन में इन लोगों ने कहा है कि नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय के सौ वें श्लोक में विकृष्ट नाट्य-गृह के रंगशीर्ष को सम, तथा चतुरस्र नाट्यगृह के रंगशीर्ष को समुन्नत रखने का वर्णन है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यहाँ रंगशीर्ष को किसके बराबर अथवा किससे अधिक ऊँचे रखने का विधान हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर अभिनव 'रंगपीठापेक्षया' ऐसा कह कर देते हैं कि चतुरस्र का रंगशीर्ष तो रंगपीठ की अपेक्षा अधिक ऊँचा होगा, तथा विकृष्ट नाट्यगृह का रंगशीर्ष, रंगपीठ के बराबर। अस्तु ये रंगपीठ और रंगशीर्ष भिन्न-भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

यवनिका

श्री घोष ने मंच के ऊपर यवनिका न मानकर उसे नेपथ्य के द्वारों पर ही माना है। इसका कारण यही है कि द्वितीय अध्याय के नाट्यगृह-वर्णन में मञ्च के ऊपर यवनिका का उल्लेख नहीं हुआ। परन्तु नाट्यशास्त्र में कई स्थलों पर, मञ्च पर लगी यवनिका का उल्लेख स्पष्ट रूप से हुआ है। उदाहरणार्थ नाट्यशास्त्र में पूर्व-रंग के कुछ अंगों का विधान तो यवनिका के अन्दर कहा गया है, तथा कुछ अंगों का बाहर। इस प्रसंग का श्लोक अधोलिखित है।

ततः सर्वेऽस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत् ।

विघटय वै यवनिकां नृत्तपाट्यकृतानि तु ॥ ५-१२

इसी भाँति तेरहवें अध्याय में ध्रुवा के प्रसंग में भी 'पटे चैवाप कर्तिते' अर्थात् 'पट यात्री यवनिका के खींचे जाने पर' ऐसा पाठ मिलता है। यह यवनिका मञ्च के किस भाग पर होती थी, इसका समाधान अभिनव ने रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच में उसकी स्थिति बताकर किया है, अस्तु यहाँ अभिनव का अनुसरण करना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

नाट्यगृह के भागों का स्थान-निर्धारण

श्री घोष द्वारा किया गया नाट्यगृह के भागों का स्थान-निर्धारण भी

नाट्यशास्त्रानुकूल नहीं प्रतीत होता । उन्होंने नाट्यगृह के तीन ही भाग (अर्थात् प्रेक्षकों के बैठने का स्थान, रंगपीठ (मञ्च), तथा नेपथ्यगृह) ही माने हैं । इसके विरुद्ध नाट्यशास्त्र जहाँ नाट्यगृह के स्थान-विभाजन का वर्णन करता है, वहाँ वह 'द्विधाकुर्यात्', 'द्विधाभूतस्य तस्य तु' तथा 'सममर्धविभागेन' इन तीन वचनों से तीन विभाजक रेखाएँ खींचने की बात कहता है । स्पष्ट है कि किसी चतुर्भुज के अन्दर तीन विभाजक रेखाएँ खींचने से उसके अन्दर चार भाग बन जाएँगे, तीन नहीं । ये चारो भाग १. प्रेक्षक-स्थल २. रंगपीठ ३. रंग-शीर्ष तथा ४. नेपथ्यगृह होंगे । अस्तु घोष महोदय की स्थान-विभाजन सम्बन्धी मान्यता भी नाट्यशास्त्रानुकूल नहीं प्रतीत होती ।

व्यावहारिकता की बात उठाकर घोष महोदय यह कहना चाहते हैं, कि यदि अभिनव के अनुसार नाट्यगृह का आधा भाग मञ्च तथा नेपथ्यगृह में ही फँसा दिया जाय, तब तो प्रेक्षकों के बैठने के लिए आधा ही स्थान बचेगा । यह अव्यावहारिक प्रतीत होता है । अस्तु सम्भवतः नाट्यशास्त्र का तात्पर्य ऐसा न रहा होगा । इस भाँति घोष महोदय द्वारा उठाई गई व्यावहारिकता-सम्बन्धी बात बिल्कुल ठीक प्रतीत होती है कि दर्शकों के बैठने का स्थान $\frac{1}{2}$ भाग में तथा मञ्च और नेपथ्यगृह $\frac{1}{2}$ भाग में ही हों तो अधिक उचित प्रतीत होता है । परन्तु प्रस्तुत समस्या व्यावहारिकता अथवा औचित्य से सम्बन्धित न होकर नाट्यशास्त्र के वर्णन से सम्बन्धित है । अस्तु नाट्यशास्त्र के वर्णनानुसार तो नाट्यगृह के चार ही भाग ठहरते हैं, जिनमें से दर्शक-स्थल के लिए $\frac{1}{2}$ स्थान, नेपथ्यगृह के लिए $\frac{1}{2}$ स्थान, रंगपीठ के लिए $\frac{1}{2}$ स्थान तथा रंगशीर्ष के लिए $\frac{1}{2}$ स्थान का विधान है ।

श्री घोष द्वारा अभिनव-वर्णित यवनिका तथा स्थान निर्धारण के प्रत्याख्यान किये जाने का कारण उनके द्वारा रंगशीर्ष और रंगपीठ का अभेद मानना ही प्रतीत होता है और इनकी इस अभेद मान्यता का मूलकारण नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में विकृष्ट नाट्यगृह के स्थान-विभाजन के प्रसंग में किया केवल रंगशीर्ष का एकवचनान्त प्रयोग एवं रंगपीठ का उल्लेख न होना ही प्रतीत होता है । यह बात वस्तुतः उचित ही लगती है कि यदि नाट्यशास्त्र को रंगपीठ तथा रंगशीर्ष का अलग-अलग विधान करना अभीष्ट था तो यहाँ उसे

स्पष्ट रूप से दोनों का उल्लेख करना चाहिये था, जो उसने नहीं किया। इसे नाट्यशास्त्र का एक अस्पष्टता दोष कहा जा सकता है, पर नाट्यशास्त्र में तो ऐसे एक नहीं अनेकों दोषपूर्ण स्थल प्राप्त होते हैं। अस्तु यहाँ पर दोष का होना कोई नई बात नहीं प्रतीत होती।

इस प्रसंग में हिन्दी अभिनवभारती के सम्पादक आचार्य विश्वेश्वर की भी एक कल्पना उल्लेखयोग्य है। विश्वेश्वर जी का कहना है कि—

सममर्धविभागेन रंगशीर्षं प्रकल्पयेत् । २-३४

इस श्लोकार्ध के अन्तिम चरण का पाठ 'रंगशीर्षं प्रकल्पयेत्' ऐसा द्विवचनान्त माना जाना चाहिए, जिसका अर्थ होगा रंग अर्थात् रंगपीठ तथा शीर्षं अर्थात् रंगशीर्ष बनाना चाहिये। उनके अनुसार यही पाठ नाट्यशास्त्र की भावना के अनुरूप है। वे कहते हैं कि बहुत सम्भव है कि यहाँ 'रंगशीर्ष' ही पाठ रहा हो, क्योंकि ए ' ' की मात्रा की लकीर थोड़ी घिस जाने पर रंगशीर्ष यह भ्रष्ट पाठ सरसता से प्रचलित हो सकता है। अस्तु भले ही आचार्य विश्वेश्वर की यह कल्पना दुरुह प्रतीत होती हो, परन्तु इसे एक सम्भावना के रूप में स्वीकार करने में कोई दोष नहीं प्रतीत होता।

अस्तु इस विवेचन का निष्कर्ष यही निकलता है, कि अभिनव के अनुसार ही रंगपीठ तथा रंगशीर्ष को अलग-अलग मानना, इन दोनों के बीच यवनिका की स्थिति स्वीकार करना, तथा नाट्यगृह के चार भाग मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

मत्तवारणी

नाट्यगृह से सम्बन्धित अगला विवादास्पद विषय मत्तवारणी का है। नाट्यशास्त्र में विकृष्ट तथा चतुरस्र नाट्यगृहों के वर्णन के अन्तर्गत मत्तवारणी का वर्णन अधोलिखित रूप में किया गया है—

रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्तव्या मत्तवारणी ।

चतुःस्तम्भसमायुक्ता रंगपीठप्रमाणतः ॥ २-६३

अध्यर्घहस्तोत्सेधेन कर्तव्या मत्तवारणी ।

उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रंगमण्डपम् ॥ २-६४

एवं विधिपुरस्कारैः कर्तव्या मत्तवारणी ॥ २-६७

• • •

पूर्वप्रमाणनिर्दिष्टा कर्तव्या मत्तवारणी ।

चतुःस्तम्भसमनुत्तरा वेदिकायास्तु पार्श्वतः ॥ २-९९

इस भाँति सामान्य रूप से यहाँ यही कहा गया है कि रंगपीठ के पार्श्व में उसी की नाप की मत्तवारणी बनाई जानी चाहिए, जो चार स्तम्भों से युक्त तथा डेढ़ हाथ ऊँची हो, तथा ऊँचाई में उसी के बराबर रंगमण्डप (रंगपीठ) बनाना चाहिए ।

सर्वप्रथम यहाँ पाठ-सम्बन्धी इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि चौंसठवें श्लोक में 'रंगमण्डपम्' के स्थान पर 'रंगपीठकम्' पाठ होना चाहिए था जो गलती से कई प्रतियों में रंगमण्डपम् ही छपा है । कारण कि उसी श्लोक के पूर्वार्ध में मत्तवारणी को जो डेढ़ हाथ ऊँचा रखने की बात कही गई है, वह रंगमण्डप की ही अपेक्षा ऊँचा रखने की बात है । रंगमण्डप प्रेक्षकों के बैठने के स्थान को कहते हैं । इसलिए जब मत्तवारणी को रंगमण्डप से डेढ़ हाथ ऊँचा रखने का विधान पहिले हो चुका तो फिर मत्तवारणी तथा रंगमण्डप की ऊँचाई समान कैसे हो सकती है ? अस्तु यहाँ 'रंगमण्डपम्' न होकर 'रंगपीठकम्' पाठ ही रहा होगा, जो अभिनव की व्याख्या से भी प्रमाणित होता है । कारण कि उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'तस्या यावानुत्सेधः तावान् रंगपीठस्य' अर्थात् जितनी ऊँचाई मत्तवारणी की हो उतनी ही रंगपीठ की होनी चाहिये । अस्तु मत्तवारणी तथा रंगपीठ की दोनों की ऊँचाई डेढ़-डेढ़ हाथ मानना ही नाट्यशास्त्रानुरूप प्रतीत होता है ।

मत्तवारणी से सम्बन्धित कई प्रश्न पाठकों के सामने उपस्थित होते हैं ।

ये प्रश्न हैं—मत्तवारणी का शब्दार्थ तथा प्रयोजन क्या है ? उसका स्थान तथा आकार क्या है ? तथा उसकी संख्या कितनी है ? इनमें से शब्दार्थ तथा प्रयोजन के विषय में तो अभिनव की व्याख्या से प्रायः कुछ भी स्पष्ट नहीं होता । शेष प्रश्नों के समाधान में अभिनव कहते हैं कि मत्तवारणी रंगपीठ के

दोनों पाश्वों अर्थात् बगलों में बाहर की ओर बननी चाहिए। दोनों पाश्वों बाला यह अर्थ अभिनव द्वितीय अध्याय की चौसठवीं कारिका में प्रयुक्त 'तयोः' पद से निकालते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे दो मत्तवारणियों का विधान मानते हैं। इसके आकार के विषय में अभिनव कहते हैं कि रंगपीठ की बराबरी में बनाने पर ८×८ हाथ की वर्गाकार तथा रंगपीठ और रंगशीर्ष दोनों की बराबरी में बनाने पर ८×१६ हाथ की आयताकार मत्तवारणियाँ बन जाती हैं। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है कि नाट्यगृह के बताये गये परिमाण के बाहर भी उसका कोई भाग बनता है। अस्तु अभिनव का यह मत कि मत्तवारणियाँ नाट्यगृह से बाहर की ओर बनेंगी, आधार-रहित ही प्रतीत होता है। दूसरे यदि मत्तवारणियों को बाहर मान भी लिया जाय, तो फिर उनका परिमाण रंगपीठ से छोटा पड़ जायगा, क्योंकि इस प्रकार से रंगपीठ ३२ हाथ सम्बा बनेगा जो मत्तवारणियों से बहुत बड़ा होगा।

प्रो० सुब्बाराव का मत

नाट्यशास्त्र के अन्दर मत्तवारणी के वर्णन में 'पाश्वे', 'कर्तव्या', तथा 'मत्तवारणी' ये तीनों ही शब्द कई बार एक ही वचन में प्रयुक्त हुए हैं। इस कारण प्रो० सुब्बाराव ने नाट्यगृह में एक ही मत्तवारणी मानी है। इसका अर्थ करते हुए उन्होंने इसे 'मत्तानां वारणानां श्रेणिः' अर्थात् मत्त हाथियों की पंक्ति कहा है। उनके अनुसार मञ्च के सामने घरातल से डेढ़ हाथ उँची उठाई गई दीवाल जिसमें मत्त हाथियों के चित्र बने हों, वही मत्तवारणी है।

प्रो० भानु का मत

महाराष्ट्रीय विद्वान् प्रो० भानु ने, जिन्होंने नाट्यशास्त्र का मराठी अनुवाद भी किया है, मत्तवारणी का अर्थ मत्तों का वारण करने वाली किया है। तात्पर्य यह है कि नाट्य देखते समय कभी-कभी कुछ उन्मत्त प्रेक्षक मञ्च पर चढ़कर उपद्रव भी कर सकते हैं। इनसे सुरक्षा की दृष्टि से मञ्च के सामने छोटी-सी दीवार या कटहरा लगाना उचित होता है। इस प्रकार की रोक को ही मत्तवारणी माना जाना चाहिये।

कु. गोदावरी केतकर मत्तवारणी का अर्थ तो प्रो. भानु बाला ही

मानती हैं, परन्तु वे इस शब्द को 'मत्तवारिणी' इस रूप में रखती हैं, तथा रंगपीठ के दोनों बगलों में दो मत्तवारिणियाँ मानती हैं। इसके अतिरिक्त श्री मन मोहन घोष तथा प्रो. डी. आर. मनकद रंगपीठ के बगल में 4×4 हाथ की दो ही मत्तवारिणियाँ मानते हैं। प्रो. आद्य रंगाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'इन्ट्रोडक्शन टु भरताज नाट्यशास्त्र' में नाट्यगृह के अन्दर चार मत्तवारिणियाँ मानी हैं, पर उन्होंने यह किस आधार पर माना, यह स्पष्ट नहीं किया।

आचार्य विश्वेश्वर का मत

आचार्य विश्वेश्वर ने मत्तवारिणी के विषय में पर्याप्त विवेचन करके अभिनव के ही मत को पुष्ट करने का प्रयास किया है^१। इस प्रसंग में उन्होंने एक पाठ-संशोधन भी किया है। 'कर्तव्या मत्तवारिणी' के स्थान पर उन्होंने 'कर्तव्या मत्तवारिणी' ऐसा पाठ मान्य किया है, तथा इसका ही औचित्य सिद्ध किया है। मत्तवारिणी शब्द को लेकर वे कहते हैं कि यह शब्द नाट्यशास्त्र को छोड़कर अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता। इसके विपरीत मत्तवारण शब्द ही बहुप्रचलित शब्द है, जिसका अर्थ बरण्डा होता है। अस्तु सम्भवतः किसी व्यक्ति ने शब्द-सौन्दर्य उत्पन्न करने की दृष्टि से उसे स्त्रीलिंग में कर दिया होगा। वैसे मूलतः वह मत्तवारण ही रहा होगा।

इस प्रकार का पाठ-परिवर्तन मान्य कर लेने पर आचार्य विश्वेश्वर कहते हैं कि चूँकि मत्तवारण का अर्थ बरण्डा होता है, और बरण्डा सदैव भवन के बाहर बनता है। अस्तु मत्तवारण नाट्यगृह के बाहरी भाग में रंगपीठ के अगल-बगल दो जगह बनेंगे। इस प्रकार पाठ-संशोधन करके विश्वेश्वरजी ने सरलता से अभिनव का मण्डन तथा घोष आदि का खण्डन कर दिया है।

निष्कर्ष

मत्तवारिणी के विषय में इतने विद्वानों द्वारा विस्तृत विवेचन हो जाने

१- पापुलर प्रकाशन बम्बई से १९६६ ई० में प्रकाशित, पृ. २०

२- हिन्दी अभिनव-भारती, पृ. ३१० से ३२०

के पश्चात् भी उसके विषय में सन्देह बना ही रहता है। नाट्यशास्त्र में सर्वत्र मत्तवारणी का एकवचनान्त प्रयोग होने से दो मत्तवारणियाँ मानने वाला मत खींचतान करके ही स्थिर किया गया प्रतीत होता है। 'उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्तव्यं रंगपीठकम्।' यहाँ तयोः पद के द्विवचन के कारण ही अभिनव दो मत्तवारणियाँ मानते हैं। इस विषय में इन पंक्तियों के लेखक का निवेदन है कि यदि 'तयोः' के द्विवचन के अनुसार अभिनव 'कर्तव्या मत्तवारणी' का अर्थ द्विवचनान्त रूप में करते हैं, तो इसी प्रकार 'मत्तवारणी' के एकवचन के अनुसार 'तयोः' के द्विवचन का अर्थ एकवचनात्मक मानने में उन्हें क्या आपत्ति थी? मत्तवारणी के एकवचनान्त प्रयोग तो नाट्यशास्त्र में अनेक हैं, परन्तु उसका सूचक 'तयोः' यह द्विवचनान्त पद तो एक ही है। अस्तु यहाँ एक की अपेक्षा अनेकों (अर्थात् एकवचन वाले पदों) का अनुसरण करना अधिक समीचीन होता।

इसके अतिरिक्त इस 'तयोः' का पाठान्तर 'तया' मिलता भी है। अर्थात् नाट्यशास्त्र की कुछ प्रतियों में 'उत्सेधेन तया तुल्यं कर्तव्यं रंगपीठकम्।' इस प्रकार का पाठ भी मिलता है। मत्तवारणी के एकवचन के अनुसार यह संगत भी है। इससे उसकी (मत्तवारणी की) ऊँचाई के बराबर ऊँचा रंगपीठ रखना चाहिए' यह अर्थ भी ठीक बैठता है। अभिनव का समर्थन करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने अनेक स्थलों पर 'कर्तव्या मत्तवारणी' यह परिवर्तन करना तो मान्य कर लिया, पर केवल एक स्थान पर ही 'तयोः' के स्थान पर 'तया' करने की बात उन्होंने क्यों नहीं सोची, यह समझ में नहीं आता। उनके द्वारा सुझाए परिवर्तन तो पूर्णतः नये ही हैं, परन्तु यह परिवर्तन तो पाठान्तर रूप में पहिले से ही प्रचलित रहा है। अस्तु इन पंक्तियों के लेखक की तो यहाँ 'तयोः' के स्थान पर तयाः' पाठ ही अधिक सम्भव प्रतीत होता है। अस्तु ऊपर दो मत्तवारणियाँ मानने वाले जितने भी मत उल्लिखित हैं, वे नाट्यशास्त्र के वर्तमान पाठ से मेल नहीं खाते।

प्रो० सुब्बाराव तथा प्रो० भानु ने एक ही मत्तवारणी रंगपीठ के सामने मानी है, और उसकी ऊँचाई तथा प्रमाण भी नाट्यशास्त्रानुसार ही माना है। आचार्य विश्वेश्वर का कहना है कि इनकी मान्यताएँ अभिनव के विपरीत होने

से अमान्य हैं, पर नाट्यशास्त्र के विषय में और मूँदकर अभिनव को ही प्रमाण मानना कोई अधिक अच्छी बात नहीं प्रतीत होती। दूसरी बात जो विश्वेश्वर जी इनके विरुद्ध कहते हैं, वह यह है कि यदि रंगपीठ के सामने एक दीवार खड़ी कर दी जायगी तो प्रेक्षकों को नाट्य देखने में बाधा पहुँचेगी, पर विश्वेश्वर जी यह भूल जाते हैं कि यह कोई अधिक ऊँची दीवार न होकर केवल रंगपीठ की ऊँचाई के ही बराबर है। अस्तु प्रेक्षण-बाधा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

ऊपर जिन विद्वानों के मतों का उल्लेख हुआ है, उनमें से प्रो० भानु ने ही मत्तवारणी का प्रयोजन स्पष्ट रूप में बताया है। उनके अनुसार उपद्रवियों के वारण के लिये ही दीवार अथवा कटहरे के रूप में मत्तवारणी बनाई जानी चाहिए। प्रो० भानु की यह बात नाट्यशास्त्र से भी प्रमाणित होती है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में जहाँ नाट्यगृह के भागों में रक्षकों की नियुक्ति का वर्णन है, वहाँ मत्तवारणी में दैत्य निषूदन की विधुत् के स्थापित किये जाने का उल्लेख है। अस्तु मत्तवारणी का प्रयोजन विघ्नकारी दैत्यों से मञ्च की रक्षा करना ही प्रतीत होता है। आजकल भी एकदम मञ्च से सटकर ही प्रेक्षकों को बैठाया जाता है। इन रिक्त स्थान के किनारे कभी-कभी बाँस आदि के खंभे लगाकर रस्सी आदि बाँध दी जाती है, ताकि लोग मञ्च तक न पहुँच सकें। सम्भवतः चार स्तम्भों वाली मत्तवारणी का विधान इसी विचार से किया गया हो सकता है। क्योंकि नाट्यशास्त्र के अन्दर तो रंगपीठ के अगल-बगल दो कक्षों के निर्माण का विधान ही है, और न उनका कोई प्रयोजन ही बताया गया है। अस्तु नाट्यशास्त्र के वर्तमान पाठ के आधार पर उन्हें सिद्ध करने की बात खींचतान सी ही प्रतीत होती है। हाँ यदि आचार्य विश्वेश्वर द्वारा कल्पित 'कर्तव्या मत्तवारणौ' वाला पाठ किसी अन्य पुष्ट प्रमाण से प्रमाणित हो जाय तो फिर नाट्यगृह के अन्दर ही रंगपीठ के अगल-बगल 2×2 हाथ की दो मत्तवारणियाँ मानी जा सकती हैं। ऐसा होने पर रंगपीठ 16×2 हाथ का बचता है, जो क्रियात्मकता की दृष्टि से अधिक उचित हो सकता है। अस्तु वर्तमान परिस्थिति में मत्तवारणी के विषय में कोई अन्तिम निर्णय दे पाना कठिन ही प्रतीत होता है। उसके विषय में कुछ सम्भावनाएँ ही व्यक्त की जा सकती हैं, जो ऊपर लिखित हैं।

दारुकर्म्म तथा षड्दारुक

नाट्यशास्त्र ने नाट्यगृह के अन्दर लकड़ी के कलात्मक काम करने का वर्णन किया है। यह विधान नाट्यगृह में सौन्दर्य लाने की ही दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। लकड़ी के इस कलात्मक काम को नाट्यशास्त्र दारुकर्म्म अथवा काष्ठविधि नाम देता है। इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की कारीगरी से युक्त तथा सर्पों आदि के चित्रों एवं पुत्तलिकाओं आदि से सुसज्जित काष्ठखण्डों से मञ्च को सजाने का वर्णन किया गया है। साथ ही ऐसे तक्तों के भी प्रयुक्त करने का वर्णन हुआ है जो दीवार की भाँति दिखाई देते हों। अस्तु प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र केवल दरवाजों आदि के लिये ही लकड़ी के उपयोग की बात न करके उससे दीवारें सजाने का भी विधान करता है। आजकल भी 'प्लाई वुड' अथवा किन्हीं अन्य सुन्दर लकड़ियों द्वारा दीवारें सजाने की प्रथा है। इस प्रयोग से भवनों के सौन्दर्य में वृद्धि अवश्य होती है।

इस प्रसंग में नाट्यशास्त्र रंगशीर्ष में छः विशेष काष्ठखण्ड लगाने की बात कहता है। इन छः काष्ठों को यहाँ षड्दारुक नाम दिया गया है। नाट्यशास्त्र ने इस षड्दारुक का स्पष्टीकरण नहीं किया। अस्तु विद्वानों ने उसके विषय में कई प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। अभिनव के अनुसार नेपथ्यगृह की दीवार के सामने चार कलात्मक स्तम्भ तथा उनके नीचे तथा ऊपर की लकड़ियों को षड्दारुक कहा है। यहाँ उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि ये स्तम्भादि नेपथ्यगृह की दीवार से सटे रहते थे, अथवा कुछ दूरी पर, अथवा रंगशीर्ष तथा रंगपीठ के बीच में। अभिनव षड्दारुक के त्रिविध रूपों का उल्लेख करते हैं, जो मिलते-जुलते से हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० सुब्बाराव ने अपने द्वारा कल्पित मत्तवारणी में प्रयुक्त छः काष्ठखण्डों को ही षड्दारुक कहा है, पर यह कल्पना नाट्यशास्त्र के अनुकूल नहीं है। अस्तु षड्दारुक का रूप चाहे जैसा रहा हो, पर इतना अवश्य है कि उसका प्रयोग मञ्च की सौन्दर्य-वृद्धि के लिये होता रहा होगा।

स्तम्भ विधान

षड्दारुक के अतिरिक्त, नाट्यशास्त्र में नाट्यगृह के अन्दर स्तम्भ

लगाने की विधि भी वर्णित है। नाट्यगृह के चारों कोनों में एक-एक स्तम्भ लगाने की बात यहाँ विकृष्ट नाट्यगृह के ही प्रसंग में कही गई है। इन चार स्तम्भों के अतिरिक्त अन्य भी २४ स्तम्भ खड़े करने की बात चतुरस्र नाट्यगृह-वर्णन में कही गई है। ये स्तम्भ नाट्यगृह की ऊपरी छत अथवा वितान आदि को धारण करने की सामर्थ्य वाले होने चाहिये। इन २४ स्तम्भों में से १० स्तम्भ रंगपीठ पर तथा शेष १४ अन्य भागों पर लगाने की बात कही गई है। नाट्यशास्त्र के टीकाकारों ने इन स्तम्भों के लगाने के स्थानों का निर्धारण विस्तार से किया है। नाट्यशास्त्र तो इन स्तम्भों का संक्षिप्त विवरण देकर कहता है, कि इन्हें मण्डप धारण करने के लिये मजबूत होना चाहिए तथा कुशल कारीगरों से कलात्मकतापूर्वक बनवाया जाना चाहिए।

द्वार विधि

नाट्यशास्त्र में द्वितीय अध्याय में विकृष्ट नाट्यगृह-वर्णन के प्रसंग में नेपथ्यगृह से मञ्च पर आने के लिये दो द्वारों का उल्लेख किया गया है। इसके विपरीत चतुरस्र नाट्यगृह-वर्णन में नेपथ्यगृह से मञ्च पर आने के लिये केवल एक ही द्वार का वर्णन मिलता है। नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय के दूसरे श्लोक में पुनः नेपथ्यगृह के दो द्वारों की चर्चा हुई है अस्तु स्पष्ट है कि इस वर्णन में असंगति है। इस असंगति को दूर करने के लिये अभिनव ने चतुरस्र से सम्बन्धित द्वार-वर्णन में आये 'द्वारं चैकं भवेत्तत्र' वाक्य के द्वार शब्द को 'जातौ एकवचनम्' का उदाहरण माना है। अर्थात् एकवचनान्त द्वार शब्द का प्रयोग एक ही प्रकार के दो द्वारों के लिये किया गया माना है। आचार्य विश्वेश्वर का सुझाव है कि यहाँ 'द्वारं चैकम्' के स्थान पर 'द्वारद्वयम्' पाठ कर लेना उचित है। अस्तु इस प्रसंग को विस्तार न देकर यही मानना अधिक उचित प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के अनुसार नेपथ्यगृह में दो ही द्वार होने चाहिए।

इन दो द्वारों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र दो अन्य द्वारों का भी वर्णन इस प्रकार करता है—

नेपथ्याभिमुखं कार्यं द्वितीयं द्वारमेव तु।

जनप्रवेशनं चान्यदाभिमुख्येन कारयेत् ॥ २.६७

इसकी व्याख्या में अभिनव कहते हैं कि तीसरा द्वार नेपथ्यगृह की ओर होना चाहिए, जिससे पात्रगण बाहर से नाट्यगृह के अन्दर आवें तथा चौथा द्वार मंच के सामने की दिशा में होना चाहिए, जिससे प्रेक्षकगण नाट्यगृह में प्रवेश करें। इस प्रकार अभिनव की व्याख्या तथा स्वयं नाट्यशास्त्र के भी अनुसार उक्त श्लोक के पूर्वार्ध में वर्णित द्वार तृतीय द्वार सिद्ध होता है, पर नाट्यशास्त्र में उसे द्वितीय ही कहा गया है। अस्तु असंगति को दूर करने के लिये आचार्य विश्वेश्वर ने 'द्वितीयम्' के स्थान पर 'तृतीयम्' पाठ कर लेने की सलाह दी है, जो उचित ही प्रतीत होती है। उक्त चारों द्वारों के वर्णन के अतिरिक्त अभिनव ने यह भी कहा है, कि कुछ लोग रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में भी दो द्वार मानते हैं। इस प्रकार अभिनव की व्याख्या में कुल छः द्वारों का उल्लेख मिलता है, पर नाट्यशास्त्र में तो केवल चार ही द्वार वर्णित हैं।

नाट्यमण्डप का द्विभूमित्व

नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यमण्डप को 'द्विभूमि' कहा गया है। अभिनव ने द्विभूमि के विषय में कई मत उद्धृत किये हैं। एक के अनुसार रंगपीठ के ऊपर तथा उससे नीचे के भागों को ही नाट्यमण्डप की दो भूमियाँ माना गया है। दूसरे मत के अनुसार मत्तवारणी के बाहर निकले भाग के बराबर नाट्यगृह के चारों ओर भित्ति बना देने से वह दो भूमियों वाला हो जाता है। तीसरे मत के अनुसार नाट्यमण्डप दुमञ्जिला होना चाहिए। यही दो मञ्जिलें ही उसकी दो भूमियाँ अथवा भूमिकाएँ होंगी। इसके अतिरिक्त अभिनव यह भी कहते हैं कि—

कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः ॥ २.८०

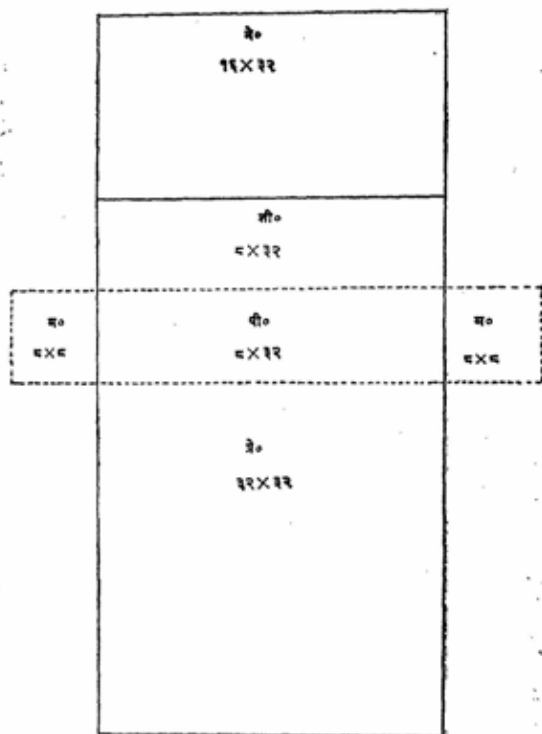
इस श्लोक के द्विभूमिः के स्थान पर अद्विभूमिः ऐसा पाठ मानकर कुछ लोग नाट्यमण्डप को एक मञ्जिल का ही मानते हैं। अपने गुरु भट्टतोत का शिष्य-मणित मत उद्धृत करते हुए अभिनव कहते हैं कि इसके अनुसार प्रेक्षकों के बैठने के स्थान को रंगपीठ की ओर तो नीचा तथा पीछे की ओर ऊँचा रखना चाहिए। यही रंगमण्डप का द्विभूमित्व है। नाट्यशास्त्र के प्रायः सभी अध्यायों इन्हीं कल्पनाओं के सहारे इस विषय में कुछ न कुछ अनुमान करते रहे हैं, पर रंगमण्डप के द्विभूमित्व के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कह पाना कठिन है।

क्या छत भी ?

नाट्यशास्त्रोक्त नाट्यगृह के विषय में एक प्रश्न और उठता है, कि क्या वह प्राचीन ग्रीक नाट्यगृहों के समान खुला ही रहता था, अथवा उसके ऊपर कोई छत या वितान भी रहता था। यद्यपि नाट्यशास्त्र से इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता, पर कुछ संकेत अवश्य मिलता है। नाट्यशास्त्र कहता है कि उसमें मण्डप को धारण कर सकने में समर्थ तथा दृढ़ स्तम्भ लगाने चाहिए। इससे प्रतीत होता है, कि नाट्यगृह के ऊपर कोई छत अथवा वितान अवश्य होता होगा जिसे ये स्तम्भ धारण करते थे। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र नाट्यमण्डप को शैलगुहाकार बताता है। इससे भी उसमें किसी प्रकार का छत होने की ध्वनि निकलती है। इसके अतिरिक्त यहाँ नाट्यगृह को निर्वात रखने भी बात कही गई है, जिससे कि उसमें बोले हुये शब्द गम्भीर हो जायें। ऐसा होना प्रायः तभी सम्भव है, जबकि उसके ऊपर कोई न कोई छत अवश्य हो। इसके अतिरिक्त स्वयं नाट्यमण्डप शब्द से ही यह ध्वनि निकलती है कि उसके ऊपर कोई न कोई वस्तु छाई होनी चाहिये। अस्तु प्रो० मनकद तथा आचार्य विश्वेश्वर आदि विद्वानों ने नाट्यशास्त्रोक्त नाट्यगृह में छत होने की भी बात स्वीकार की है, जो उचित ही प्रतीत होती है।

संक्षेप में यही नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्यगृह का परिचय है। आगे कुछ विद्वानों के अनुसार बनाये गये नाट्यगृहों के रेखाचित्र भी दिये जा रहे हैं, जिनसे उनके आकार-प्रकार को समझने तथा तुलनात्मक अध्ययन करने में सुविधा हो सकेगी।

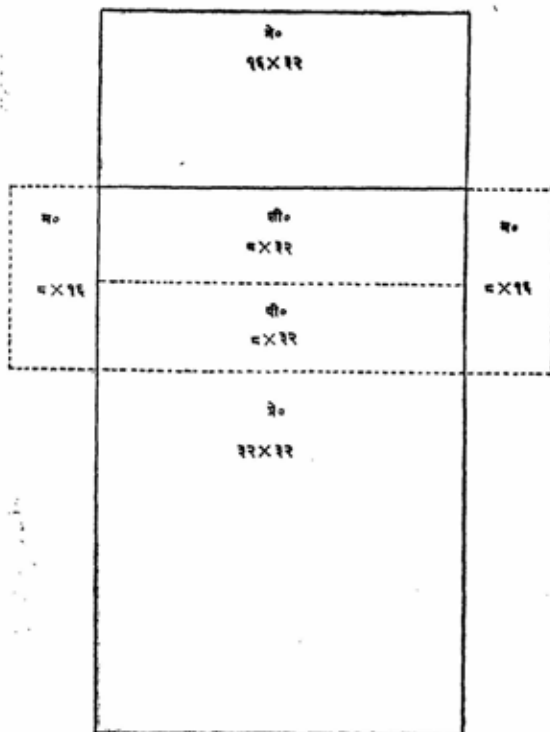
श्री अभिनव गुप्त के अनुसार विकृष्ट (आयताकार) नाट्यगृह (६४×३२) का रेखाचित्र
(वर्गाकार मत्तवारणी के साथ)



परिमाण-१ सेण्टीमीटर = ४ हाथ

संकेत- ने. = नेपथ्यगृह शी. = रंगशीर्ष पी. = रंगपीठ
म. = मत्तवारणी प्रे. = प्रेक्षकोपवेश

श्री अभिनव गुप्त के अनुसार विकृष्ट (आयताकार) नाट्यगृह (६४ × ३२)
का रेखाचित्र
(आयताकार मत्तवारणी के साथ)



समाना—१ सेण्टीमीटर = ४ हाथ

संकेत—म०=मैपयगृह

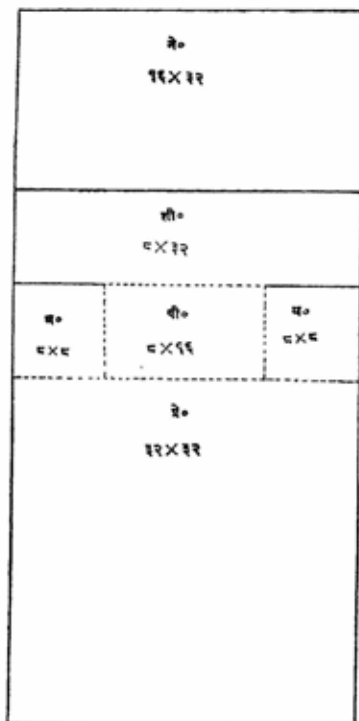
म०=मत्तवारणी

शी०=रंगशीर्ष

प्रे०=प्रेक्षकोपवेश

पी०=रंगपीठ

श्री डी. आर. मनकद के अनुसार बिकृष्ट (आयताकार) नाट्यगृह (६४ × ३२ हाथ का) रेखाचित्र



पैमाना—१ सेन्टीमीटर=४ हाथ

संकेत—ने०=नेपथ्यगृह

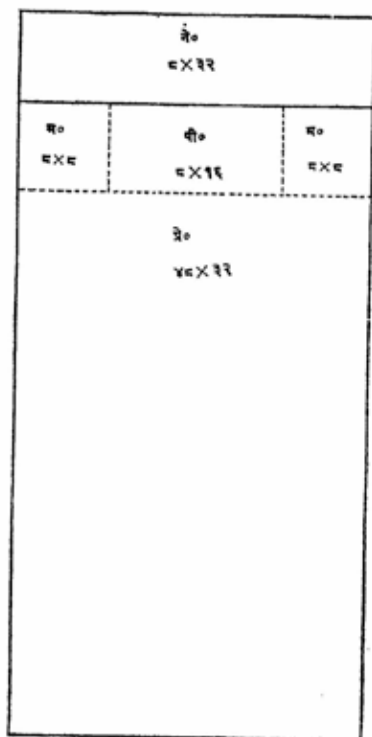
शी०=रंगशीर्ष

पी०=रंगपीठ

म०=मत्तवारणी

प्रे०=प्रेक्षकोपवेश

श्री डॉ० मनमोहन घोष के अनुसार विकृष्ट (आयताकार) नाट्यगृह (६४×३२ हाथ) का रेखाचित्र



पमाना—१ सेण्टीमीटर=४ हाथ

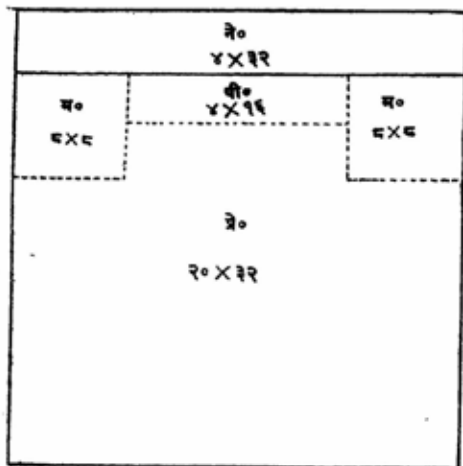
संकेत—ने०—नेपथ्यगृह

पी०—रंगपीठ

म०—मत्तवारणी

प्रे०—प्रेक्षकोपवेश

डॉ० मनमोहन घोष के अनुसार चतुरस्र (वर्गाकार) नाट्यगृह (३२×३२ हाथ) का रेखाचित्र



वैमाना—

१ सेण्टीमीटर = ४ हाथ

संकेत—

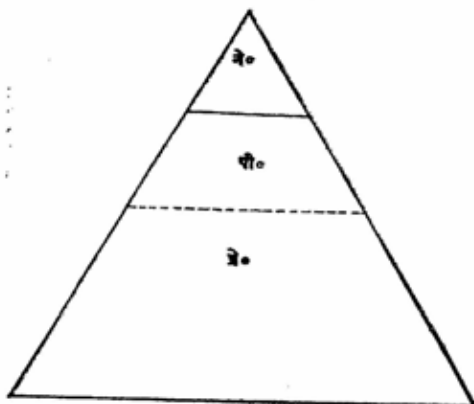
ने०—नेपथ्यगृह

पी०—रंगपीठ

म०—मत्तवारणी

प्रे०—प्रेक्षकोपवेश

डा० मनमोहन घोष के अनुसार अथर्व (त्रिभुजाकार) नाट्यगृह (प्रत्येक रेखा
३२ हाथ) का रेखाचित्र



परिमाण—

१ सेण्टीमीटर = ४ हाथ

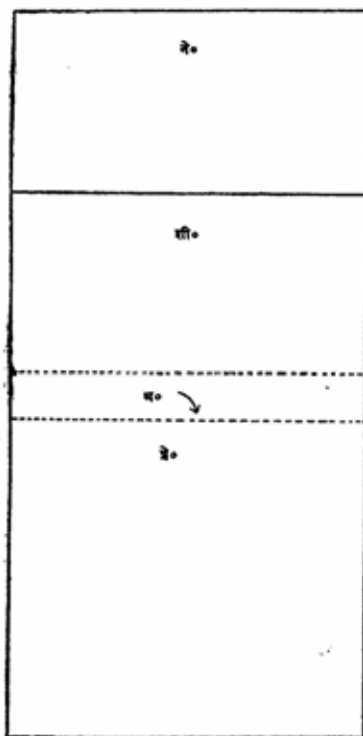
संकेत—

ने०—नेत्रपट्टगृह

पी०—रंगपीठ

प्रे०—प्रेक्षकोपवेश

श्री सुब्बाराव के अनुसार विकुष्ट (आयताकार) नाट्यगृह (६४ × ३२ हाथ)
का रेखाचित्र



पैमाना—१ सेण्टीमीटर=४ हाथ

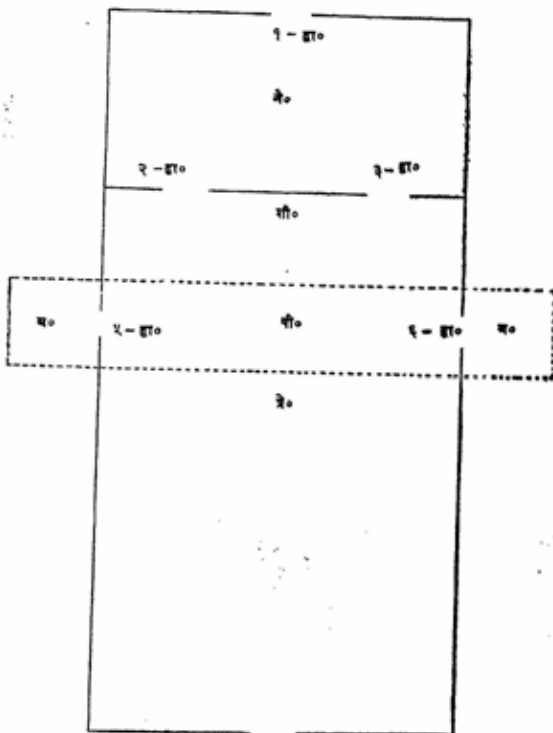
संकेत—ने०—नेपथ्यगृह

म०—मत्तवारणी

शी०—रंगशीर्ष

प्रे०—प्रेक्षकोपवेशः

आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार विकृष्ट (आयताकार) नाट्यगृह (६४×३२ हाथ) का द्वार-सूचक रेखाचित्र



पैमाना—१ सेण्टीमीटर=४ हाथ

संकेत—डा०—द्वार ने०—नेपथ्यगृह

म०—मत्तवारणी

शी०—रंगशीर्ष

प्रे०—प्रेक्षकोपवेश

पी०—रंगपीठ



दशरूप-विधान

नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय में रूपक के दस प्रकारों का वर्णन मिलता है, जो नाट्य-रचना की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। इन दस रूपकों के नाम हैं १-नाटक २-प्रकरण ३-अंक ४-व्यायोग ५-भाण ६-समवकार ७-वीथी ८-प्रहसन ९-डिम तथा १०-ईहामृग। इस प्रसंग में नाट्यशास्त्र कहता है कि वृत्तियाँ समस्त रूपकों की मातृरूपा हैं, और इन्हीं से ये दश-रूपक विनि-सृत हुए हैं। यहाँ यह भी कहा गया है, कि जैसे श्रुतियों एवं जातियों के द्वारा स्वर विभिन्न ध्रामों के रूप में प्रकट होता है, वैसे ही वृत्तियों के द्वारा नाट्य दस रूपकों का रूप प्राप्त करता है। यद्यपि नाट्यशास्त्रोक्त दशरूपविधान को देखने से ज्ञात होता है, कि इन दस रूपकों का भेदक तत्त्व वस्तु, नायक, और रस ही है, तथापि यहाँ इसका स्पष्ट कथन नहीं किया गया। यहाँ दशरूपविधान का आधार वृत्तियाँ मानी गई हैं। नाटक तथा प्रकरण को यहाँ भारती आदि चारों वृत्तियों से युक्त कहा गया है, तथा शेष रूपकों को कैंशिकी के अतिरिक्त तीन वृत्तियों से युक्त। इसके आगे नाट्यशास्त्र नाटकादि विभिन्न रूपकों की विशेषताएँ बताने लगता है।

१. नाटक

नाटक में प्रख्यात वस्तु एवं प्रख्यात तथा उदात्त राजर्षि को नायक बनाने का विधान है। इसमें नाना प्रकार की विभूतियों, समृद्धियों, विलासों, रसों, भावों, एवं चेष्टाओं आदि का वर्णन रहता है, तथा यह अंको में विभाजित होता है। इसमें अंकों का विभाजन बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। एक अंक में एक ही प्रकार की घटनाओं का वर्णन होना चाहिए, तथा अगले अंक की भिन्न घटनाओं से सम्बन्ध जोड़ने हेतु उसमें बिन्दु का प्रयोग भी होना चाहिए। अंक को नाट्यशास्त्र रुद्र शब्द बताकर कहता है, कि चूँकि यह

विभिन्नभावों एवं रसों के द्वारा अर्थों को धारण करता है, इसीलिये अंक कहलाता है। एक अंक के अन्दर नायक, देवी तथा गुरुजन, आदि चरित्रों के द्वारा उत्पन्न होने वाले अनेक रसों का चित्रण होना चाहिए। क्रोध, दुःख, शाप, युद्ध, विवाह तथा अद्भुत विषयों का अभिनय अंक के अन्दर नहीं करना चाहिए उल्लेखनीय है, कि अभिज्ञानशाकुन्तल में दुर्वासा का शाप अंक के अन्दर न होकर विष्कम्भक में ही आया है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र कहता है, कि युद्ध, राज्यभ्रंश, तथा मरण आदि की सूचना प्रवेशक के द्वारा देनी चाहिए। नायक की मृत्यु का वर्णन नाटक अथवा प्रकरण दोनों के ही अंकों अथवा प्रवेशकों में नहीं किया जाना चाहिए। ऐसा प्रसंग उपस्थित होने पर प्रवेशक के द्वार केवल नायक के भग जाने, पकड़े जाने, अथवा संधि आदि की ही सूचना दी जानी चाहिए।

नाट्यशास्त्र कहता है कि नाटक के एक अंक में एक दिन से अधिक समय की घटनाएँ नहीं वर्णित होनी चाहिए। इस समय से अधिक अवधि की घटनाएँ प्रवेशकों द्वारा सूचित की जानी चाहिए। इसी प्रकार जब कोई पात्र किसी लम्बी यात्रा पर निकलता हो, तो उसका वर्णन करके अंक को समाप्त कर देना चाहिए। प्रकरण तथा नाटक दोनों के ही अंकों के अन्दर नायक की उपस्थिति आवश्यक है। प्रवेशक में परिजनों की बातचीत वर्णित करनी चाहिए। यदि प्रयोग के बाहुल्य के कारण किसी अंक में अर्थ की समाप्ति सम्भव न हो, तो उसे संक्षिप्त रूप में प्रवेशक के द्वारा सूचित करना चाहिए। प्रवेशक में उत्तम तथा मध्यम श्रेणी के पात्रों एवं संस्कृत भाषा का प्रयोग न होना चाहिए। नाटक के दो अंकों के मध्य अथवा प्रथम अंक के पूर्व प्रवेशक की ही भाँति विष्कम्भक का भी प्रयोग हो सकता है। इसमें मध्यम, अथवा मध्यम तथा अधम पात्रों एवं संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जा सकता है।

नाटक तथा प्रकरण में केवल चार या पाँच ही सेवक पात्र रखने चाहिए। नाटक के मञ्च पर रथ, गज, बाजि तथा विमानादि को नहीं प्रविष्ट करना चाहिए, वरन् दप्ती आदि से बनी इसकी आकृतियाँ ही प्रस्तुत की जानी चाहिए। यदि मञ्च पर सेना का दृश्य दिखाना हो, तो उसे केवल चार-छः पुरुषों द्वारा ही दिखाया जाना चाहिए। नाना प्रकार के रस, भाव तथा

युक्तियों से समन्वित सभी प्रकार के रूपकों के अंत में अद्भुत रस का प्रयोग किया जाना चाहिए। नाटक और प्रकरण में कम से कम पाँच तथा अधिक से अधिक दस अंक होने चाहिए। यही संक्षेप में नाटक की नाट्यशास्त्रोक्त विशेषताएँ हैं।

२. प्रकरण

नाट्यशास्त्र में प्रकरण की कथावस्तु तथा नायक दोनों ही उत्पाद्य अर्थात् कवि-कल्पना-प्रसूत कहे गए हैं। इसका इतिवृत्त भी नाटक की ही भाँति रसात्मक होना चाहिए। प्रकरण में किसी ब्राह्मण, वैश्य, सचिव, पुरोहित, मंत्री अथवा सेनापति का चरित्र वर्णित होता है। इसका नायक उदात्त नहीं होता। इसमें न तो किसी दिव्य पात्र का ही चित्रण किया जाता है और न राज-सम्भोगों का ही। इसके अन्दर केवल बाह्य पात्रों का ही चित्रण किया जाना चाहिए, जिन में चेट, बिट, श्रेष्ठी, वेश्या आदि हो सकते हैं। नाट्यशास्त्र कहता है, कि यदि मंत्री, ब्राह्मण, तथा पुरोहित की घरेलू बातों का चित्रण किया जा रहा हो, तो वहाँ वेश्या की उपस्थिति नहीं चित्रित करनी चाहिए। साथ ही वेश्या तथा कुलीन स्त्री इन दोनों का चित्रण एक ही स्थान पर नहीं होना चाहिए। नाटक की हो भाँति प्रकरण में भी कम से कम ५ तथा अधिक से अधिक १० अंक रखने चाहिए, जिनमें नाना प्रकार के रसों तथा भावों आदि का चित्रण होना चाहिए। आवश्यकतानुसार इसमें प्रवेशक का भी प्रयोग किया जा सकता है।

नाटिका

नाट्यशास्त्र में प्रकरण तथा नाटक इन दोनों के लक्षणों के योग से बनने वाले एक और भेद नाटिका अथवा नाटी का भी वर्णन करता है, जो दशरूपकों में नहीं गिनाया गया। इसकी कथावस्तु तो प्रायः कल्पित होती है, तथा नायक कोई प्रख्यात राजा। नाटिका में स्त्री पात्रों का बाहुल्य होता है तथा अंक केवल चार होते हैं। यह ललित अभिनय से पूर्ण तथा सुगठित वस्तु वाली होती है। इसमें अनेक प्रकार के नृत्त, गीत, पाठ्य तथा सम्भोगादि का चित्रण रहता है। इसके अन्दर नायक, देवी, दूती, परिजन आदि पात्र

होते हैं, तथा अनेक प्रकार के राज-व्यवहार, शोध तथा प्रसादन आदि का चित्रण रहता है कुछ लोग नाट्यशास्त्र के अन्दर मिलने वाले इस नाटिका-सम्बन्धी विवरण को प्रक्षिप्त भी मानते हैं।

३. समवकार

नाट्यशास्त्र के अनुसार समवकार में देवासुर-सम्बन्धी वस्तु तथा प्रख्यात एवं उदात्त नायक का चित्रण होना चाहिए। इसमें तीन अंक होने चाहिए, तथा तीन प्रकार के कपड़ों, तीन प्रकार के विलेखों, तथा तीन प्रकार के शृङ्गारों का वर्णन होना चाहिए। अपनी योजनाओं द्वारा प्रयुक्त, पर-प्रयुक्त तथा दैव-प्रयुक्त ये कपट के तीन प्रकार कहे गए हैं, जिनसे सुख अथवा दुःख दोनों की उत्पत्ति हो सकती है। युद्ध अथवा जल से उत्पन्न, वायु, अग्नि अथवा हाथी से उत्पन्न तथा नगरोपरोध से उत्पन्न होने वाले विलोभ ही त्रिविध विलोभ हैं। त्रिविध शृङ्गार अथवा प्रेम का वर्णन करते हुये नाट्यशास्त्र कहता है कि कर्त्तव्य, भौतिकलाभ, तथा वासना से सम्बन्धित होने के कारण शृङ्गार भी तीन प्रकार का है। यहाँ इन तीनों के नाम क्रमशः धर्मशृङ्गार, तथा कामशृङ्गार बताये गये हैं। समवकार के नायकों अथवा पात्रों की संख्या बारह तथा अभिनय की अवधि अठारह नाटिका मानी गई है। श्री मनमोहन घोष के अनुसार नाटिका लगभग २४ मिनट की होती है।

अस्तु समवकार पर्याप्त देर तक चलने वाला रूपक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इसकी एक और विशेषता नाट्यशास्त्र में वर्णित है। वह यह है कि इनके प्रत्येक अंक के विषय भिन्न होते हैं, तथा उनमें कोई परस्पर कोई संधि नहीं होती। इस प्रकार इसके अंगों के असम्बद्ध होने के कारण ही सम्भवतः यह बहुत लम्बा हो जाता है। समवकार में उल्लिखित तथा गायत्री छन्दों के प्रयोग का निषेध किया गया है^१।

४. ईहामृग

ईहामृग में केवल दिव्य-पुरुष पात्रों का ही विधान है। इसके अन्दर दिव्य स्त्री के कारण युद्ध होने का चित्रण किया जाता है। नाट्यशास्त्र ईहामृग

की वस्तु को सुगठित करने की बात तो कहता है, परन्तु, यह नहीं बताता कि इसकी वस्तु प्रख्यात होगी या उत्पाद्य । जैसा कि दशरूपक ने मानी है, इसकी वस्तु मिश्रित अर्थात् प्रख्यात एवं उत्पाद्य दोनों के मिश्रण से ही तैयार होती रही होगी । ईहामृग के पुष्पपात्र प्रायः उद्धत होते हैं । इसमें स्त्रियों से सम्बन्धित संशोभ, विद्रव, तथा संघर्षों आदि का वर्णन होता है । साथ ही इसमें चित्रित शृङ्गार स्त्रियों को फोड़ने, उन्हें भगाने तथा प्रतिस्पर्धा को दबाने आदि से सम्बन्धित होता है । इसके अन्दर यदि कहीं किसी के वध का प्रसंग उपस्थित हो जाय, तो उसे किसी बहाने से न होने देना चाहिए ।

१. डिम

डिम की रचना प्रख्यात वस्तु तथा प्रख्यातोदात्त नायक के साथ करनी चाहिए । इसमें शृङ्गार एवं हास्य को छोड़कर शेष छः रसों का चित्रण होना चाहिए तथा केवल चार अंक रखने चाहिए । इसके अन्दर भूचाल, चन्द्र-सूर्य-ग्रहण, उल्कापात, युद्ध, द्वन्द्व माया, इन्द्रजाल, तथा अनेक पुरुषों के साहसिक कार्यों का वर्णन होना चाहिए । इसमें कुल सोलह नायकों (पात्रों) तथा सात्वती एवं आरभटी वृत्तियों का चित्रण होना चाहिए ।

६. व्यायोग

व्यायोग की कथावस्तु एवं नायक प्रख्यात होने चाहिए इसमें स्त्री पात्र स्वल्प ही होते हैं, तथा इसकी घटनाएँ केवल एक ही दिन की होनी चाहिए । समवकार की भाँति 'पुरुष पात्र' तो इसमें भी अधिक होते हैं, पर यह उसके इतना लम्बा नहीं होता, कारण इसमें केवल एक ही अंक होता है । इसका नायक दिव्य न होकर राजर्षि ही होता है । इसके अन्दर भी युद्ध, द्वन्द्व, संघर्ष आदि का वर्णन होता है एवं दोष रसों का चित्रण किया जाता है ।

७. उत्सृष्टिकांक (अंक)

अंक नामक रूपक की वस्तु प्रायः प्रख्यात ही होनी चाहिए । कभी-कभी उसमें उत्पाद्य वस्तु भी रखी जा सकती है । इसके पुरुष पात्र दिव्य न होकर अन्य होने चाहिए । इसमें करुण रस का चित्रण होना चाहिए । भीषण युद्धादि की समाप्ति पर इसमें स्त्रियों के विलापों, निवेद वचनों, तथा व्याकुल चेष्टाओं

का वर्णन होना चाहिए। इसमें केवल भारती वृत्ति का ही प्रयोग होना चाहिए तथा किसी का पतन चित्रित होना चाहिए।

८. प्रहसन

नाट्यशास्त्र प्रहसन के दो भेद मानता है। ये हैं शुद्ध-प्रहसन और सङ्कीर्ण-प्रहसन। शुद्ध-प्रहसन में पाखण्डी तापस, भिक्षु, श्रोत्रिय तथा अन्य नीच जनों के हास्यास्पद वचनों का वर्णन होता है। इसके अन्दर उक्त पात्रों के विकृत आचार एवं भाषा का चित्रण किया जाना चाहिए। सङ्कीर्ण प्रहसन में वेश्या, बिट, चेट, नपुंसक, धूर्त, चरित्रहीन स्त्री आदि के हास्यास्पद वचनों का वर्णन होता है। इसमें उक्त पात्रों की विकृत भाषा, अस्तव्यस्त वेषभूषा, तथा विकृत आचार का चित्रण होना चाहिए। प्रहसन में धूर्तादि के दम्भपूर्ण विवाद के साथ किसी प्रचलित प्रसंग का ही वर्णन किया जाना चाहिए। इसमें आवश्यकतानुसार वीथी के अंगों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

९. भाण

भाण एक पात्र तथा एक ही अंक वाला रूपक है। इसका प्रयोक्ता पात्र या तो स्वयं अपने से सम्बन्धित कहानी बताता है, अथवा किसी दूसरे से संबन्धित इस प्रकार भाण भी दो प्रकार का कहा जा सकता है। इसका पात्र आकाश-भाषित परोक्त वचनों के सुनने की सी चेष्टा करके उनका उत्तर-प्रत्युत्तर देते हुये आंगिक चेष्टाओं के साथ कथा-क्रम को आगे बढ़ाता है। इसमें धूर्तादि-सम्बन्धी अनेक घटनाओं का वर्णन होता है।

१०. वीथी

वीथी में भी केवल एक ही अंक तथा दो अथवा एक ही पात्र होते हैं। इसके पात्र उत्तम मध्यम अथवा अधम कोई भी हो सकते हैं। इसमें सभी रसों का चित्रण किया जाता है। नाट्यशास्त्र में वीथी के तेरह अंगों का वर्णन किया गया है, जिन्हें श्री घोष अंग न मानकर प्रकार मानते हैं^१। वीथी के ये तेरह अंग अधोलिखित हैं—

१-उद्धात्यक २-अवलगित ३-अवस्पन्दित ४-असत्प्रलाप ५-प्रपञ्च
६-नालिका ७-वाक्केलि ८-अधिवल ९-छल १०-व्याहार ११-मृदव
१२-त्रिगत तथा १३-गण्ड

जहाँ वक्ता द्वारा प्रयुक्त अस्पष्टार्थ पद की स्पष्टता हेतु उसे किसी अन्य पद से सम्बन्धित कर दिया जाता है, वहाँ उद्धात्यक माना जाता है। जहाँ एक कार्य से सम्बन्धित वस्तु द्वारा किसी अन्य कार्य की सिद्धि का वर्णन होता है, वहाँ अवलगित माना जाता है। जहाँ पूर्व में कहे गये किसी शुभाशुभ शब्दार्थ को बाद में उसके उलटे रूप में समझाया जाय, वहाँ अवस्पन्दित माना जाता है। जहाँ पर असंबद्ध प्रश्नोत्तर किये जाते हैं, उसे असत्प्रलाप कहा जाता है। उदाहरणार्थ किसी विद्वान् व्यक्ति के उपयुक्त प्रश्न को सुनकर जब कोई मूर्ख उसका तात्पर्य न समझकर दूसरे प्रकार का उत्तर देता है, तो इसे असत्प्रलाप माना जाता है। जहाँ पात्र एक दूसरे की हास्यास्पद मिथ्या प्रशंसा करते हैं, वहाँ प्रपञ्च माना जाता है। हास्यास्पद अर्थ वाली गूढ़ार्थक पहेली ही नालिका कही जाती है। जहाँ एक या दो बार उत्तर-प्रत्युत्तर दिये जाते हैं, वहाँ वाक्केलि मानी जाती है। स्पर्धापूर्वक अपने आधिक्य का वर्णन किया जाना अधिवल कहलाता है। जहाँ पर प्रारम्भ में बिलोभनकारी उत्तर देकर बाद में इस उत्तर को व्यर्थ बताकर कोई उलटा कार्य किया जाता है, वहाँ छल माना जाता है। जहाँ नायक के सम्मुख किसी होने वाली घटना का वर्णन कर दिया जाता है, और फिर वह घटित होती है, वहाँ व्याहार माना जाता है। दशरूपक में व्याहार की परिभाषा इससे भिन्न है। वहाँ हँसी में कहे गये किसी भिन्नार्थक वाक्य को व्याहार कहा गया है। जहाँ विवाद के कारण किसी के गुण तो दोषरूप में तथा दोष गुण रूप में बताये जाते हैं, वहाँ नाट्यशास्त्र मृदव नामक वीध्यंग मानता है। जहाँ पर तीन पात्र उदात्त शब्दों द्वारा हास्यपूर्ण वार्तालाप करते हैं। वहाँ त्रिगत माना जाता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार, उत्तेजना, भ्रम तथा विवादादि के कारण होने वाली अनुचित शब्द-योजना ही गण्ड कहलाती है। दशरूपक में किसी विषय से अर्थबद्ध वस्तु का सहसा प्रकट हो जाना गण्ड माना गया है।

इन सबको नाट्यशास्त्र वीथी के अंग कहता है। अस्तु वीथी के प्रदर्शन में इन सबकी योजना आवश्यक प्रतीत होती है। कारण कि जब इन सभी का

प्रदर्शन होगा तभी वीची नामक रूपक पूर्ण होगा, अन्यथा केवल कुछ अंगों का ही प्रदर्शन होने पर तो वीची अंगहीन ही रहेगी। सम्भवतः इन तेरहों का प्रयोग एक पात्र द्वारा एक ही अंक में किया जाना दुष्कर समझकर ही कुछ विद्वानों ने इन्हें वीची के अंग न मानकर उसके प्रकार अथवा भेद माने हैं।

इस प्रकार वीची का वर्णन हो चुकने पर नाट्यशास्त्रोक्त दशरूपकों का वर्णन तो समाप्त हो जाता है, परन्तु इसके आगे नाट्यशास्त्र में लास्य का भी वर्णन मिलता है जो नाटिका के समान एक उपरूपक जैसा ही प्रतीत होता है। नाट्यशास्त्र कहता है—

भाषाकृतिवत्लास्यं विज्ञेयं त्वेकपात्रहारां च।

प्रकरणवद्रूपकार्यं संस्तवयुक्तं विविधभावं ज्ञेयम् ॥ २०-१३३

यहाँ लास्य की आकृति भाषा के समान कही गई है, तथा उसमें एक ही पात्र का विधान किया गया है। उसका कार्य (वस्तु) प्रकरण के समान होना चाहिए तथा उसके अन्दर अनेकों प्रकार के भावों का प्रदर्शन किया जाना चाहिए। इस प्रकार लास्य भी एक अंक तथा एक पात्र वाला उपरूपक ही प्रतीत होता है, जो भाषा तथा प्रकरण के योग से बनता है। कुछ विद्वानों द्वारा लास्य-वर्णन के ये श्लोक प्रक्षिप्त भी बताये जाते हैं^१, क्योंकि नाट्यशास्त्र की कई प्रतियों में दशरूपविधान के अन्तर्गत ये नहीं मिलते। लास्य वर्णन के प्रसंग में यहाँ बाहर प्रकार के लास्यांगों का वर्णन मिलता है, जो लास्य के अंग न होकर प्रकार ही प्रतीत होते हैं। लास्य स्वतंत्र रूपक न होकर सुकुमार शैली का नृत्य ही प्रतीत होता है। अस्तु उसके अंग अथवा प्रकारों का विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में अलग से नृत्य से सम्बन्धित परिच्छेद में किया गया है।

नाट्यशास्त्र का दशरूप-विधान देखने पर ज्ञात होता है कि यहाँ ग्रीक रूपकों की भाँति भावों के आधार पर ही रूपक के दुःखान्त, सुखान्त मिश्रित इत्यादि तीन भेद नहीं माने गये। वरन् वस्तु, पात्र, रस, तथा शैली के आधार पर उसके दस प्रकार माने गये हैं।

विकास-क्रम

कुछ विद्वान् समवकार तथा डिम को प्रारम्भिक रूपक मानते हैं। इस मान्यता का आधार यही है, कि नाट्यशास्त्र में समवकार तथा डिम के ही सर्वप्रथम अभिनीत होने का वर्णन मिलता है इन दोनों के कथानक देवासुर-सम्बन्धित होते हैं, तथा नायक भी अनेक होते हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों में क्रमशः तीन एवं चार अंक भी लगभग बराबर से ही होते हैं। साथ ही इन दोनों का ही अभिनय कलात्मक कम तथा शौरगुल से युक्त अधिक होता है। अस्तु समवकार तथा डिम प्रारम्भिक रूपक प्रतीत होते हैं, जिनमें कथा का कला-हीन अनुकरण मात्र किया जाता रहा होगा। ईहामृग भी अनेक बातों में इन्हीं से मिलता-जुलता है, पर इसका कथानक कल्पित भी हो सकता है। अस्तु यह उक्त दोनों के कुछ उपरान्त विकसित हुआ होगा, क्योंकि प्रारम्भ में तो रूपक में प्रख्यात वस्तु, मनुष्येतर पात्र, तथा स्थूल एवं सम्बा प्रदर्शन ही प्रचलित रहा होगा।

व्यायोग, अंक, भाण, प्रहसन तथा वीथी ये पाँच रूपक एकांकी हैं। इनमें व्यायोग तथा अंक की वस्तु तो प्रख्यात होती है तथा शेष तीन की उत्पत्ति। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि भाण, प्रहसन तथा वीथी में कोई वस्तु होती ही नहीं, साथ ही व्यायोग तथा अंक में अनेक मनुष्य पात्र होते हैं, और शेष तीन में केवल एक या दो पात्र मात्र होते हैं, जो प्रायः नीच पुरुष होते हैं। इनमें से व्यायोग तथा अंक में मनुष्य पात्रों का प्रयोग तथा किसी सीमा तक कलात्मक अभिनय होने से प्रतीत होता है कि इनका विकास मध्यवर्ती काल में हुआ होगा। सम्भवतः इनके साथ ही साथ भाण, प्रहसन तथा वीथी का भी विकास हुआ होगा, जो संक्षिप्त आकारवाले, प्रायः वस्तु तथा अभिनय से रहित-जैसे, नीच-जन प्रयुक्त तथा विनोद के साधन मात्र प्रतीत होते हैं। सम्भवतः भाणादि का नीच पात्रों द्वारा प्रयुक्त किया जाना भी अभिनेताओं को नीच समझने वाली भावना का कारण रहा होगा, जिसके दूर करने हेतु नाट्यशास्त्र ने पर्याप्त प्रयास किया है।

शेष दो रूपकों नाट्य एवं प्रकरण का नाट्यशास्त्र विस्तृत वर्णन करता है ये दोनों ही उपर्युक्त आठों से कुछ विशेष प्रतीत होते हैं। पाँचो अवस्थाओं,

अर्चप्रकृतियों तथा संधियों को दृष्टि में रखकर जैसा सुनियोजित इतिवृत्त इन दोनों में रहता है, वैसा अन्वय नहीं। अस्तु ये दोनों ही सर्वांग-परिपूर्ण रूपक प्रतीत होते हैं, जिनका विवेचन नाट्यशास्त्र ने प्रयत्नपूर्वक किया है। इस प्रकार कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि इन दोनों का प्रचलन स्वयं नाट्यशास्त्रकार ने किया होगा। यह सम्भव भी हो सकता है, क्योंकि नाट्यशास्त्र नाट्य के स्तर को उँचे उठाने में तो प्रयत्नशील रहा हो है। अस्तु उक्त बातों साधारण रूपकों से विशेष इन दो रूपकों को सर्वांग-परिपूर्ण एवं प्रतिष्ठित बनाने का कार्य स्वयं नाट्यशास्त्रकार का ही किया हो सकता है। सम्भवतः उपर्युक्त आठ रूपकों में साधारण कोटि का अनुकरण तथा मनोरञ्जन मात्र होता था, जिनके स्थान पर इन दोनों में उच्चस्तरीय कलात्मक अनुकरण तथा रसात्मक मनोरञ्जन एवं साथ ही साथ लोकोपदेश का संयोग करके रूपक में नाट्यवेदत्व की प्रतिष्ठा करने का प्रयास नाट्यशास्त्रकार ने उचित ही किया है।

उपर्युक्त दस रूपकों में से समवकार, डिम, ईहामृग तथा बीधी का कोई भी प्राचीन नमूना आज नहीं मिलता। अस्तु सम्भवतः कलात्मक रूपकों के विकसित होने पर इनका प्रचलन समाप्त हो गया होगा। व्यायोग तथा अंक के भी प्राचीन नमूने क्रमशः केवल भास के 'मध्यम व्यायोग' तथा 'उरुभङ्ग' ही हैं। भाण तथा प्रहसनों के नमूने कुछ अधिक प्राप्त होते हैं, परन्तु वे भी नाटकों तथा प्रकरणों की तुलना में कम ही हैं।

दशरूपक तथा वृत्तियाँ

नाट्यशास्त्र ने दशरूप-विभाजन का आधार वृत्तियों को ही माना है। यहाँ वृत्तियों का सात्वयं नाट्यार्थ का साधक व्यापार ही प्रतीत होता है। जहाँ मनोभावों का प्रकाशन किया जाता है, वहाँ सात्वती वृत्ति तथा जहाँ सुन्दर एवं मृदुल व्यापार वर्णित होता है, वहाँ मनोभावों का प्रकाशन किया जाता है, वहाँ सात्वती वृत्ति तथा जहाँ सुन्दर एवं मृदुल व्यापार वर्णित होता है, वहाँ कैथिकी वृत्ति मानी जाती है। जहाँ दौड़-धूप, मार-काट, छल-प्रपञ्च आदि से युक्त व्यापार वर्णित होता है, वहाँ आरभटी तथा जहाँ केवल वाग्व्यापार होता है, वहाँ भारती वृत्ति मानी जाती है। आगे इन वृत्तियों पर कुछ विस्तृत विचार करने का प्रयास किया जायगा।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक तथा प्रकरण में उपर्युक्त चारो प्रकार की वृत्तियाँ अर्थात् व्यापार रहते हैं। अस्तु ये पूर्णरूप कहे जा सकते हैं। इन दोनों के योग से बने वाली नाटिका भी पूर्णरूप ही मानी जा सकती है। समवकार, डिम, ईहामृग तथा व्यायोग इनमें कंशिकी के अतिरिक्त शेष तीन ही वृत्तियाँ रहती हैं। अस्तु ये मध्यम श्रेणी के रूपक माने जा सकते हैं। भाण, प्रहसन, अङ्क तथा वीथी में भी रहती तो कंशिकी-रहित तीनों वृत्तियाँ हैं, परन्तु उनमें प्रधानता भारती की ही रहती है। अस्तु ये रूपक और भी अधिक विकलाङ्ग कहे जा सकते हैं।

सुकुमार तथा आविद्ध प्रयोग

नाट्यशास्त्र ने दशरूपकों का द्विविध प्रयोग बताया है। इनके नाम हैं सुकुमार तथा आविद्ध उसके अनुसार नाटक, प्रकरण भाण, वीथी तथा अङ्क का प्रयोग सुकुमार होता है। इनमें से शृङ्गार-रसात्मक रूपकों का सुकुमार प्रयोग स्त्री पात्रों द्वारा कराया जाना चाहिए। ऐसे रूपकों में मार-काट तथा भाग-दौड़ नहीं होती। इसके विपरीत डिम, समवकार, व्यायोग तथा ईहामृग जिनमें भाग-दौड़, शोरगुल तथा मारकाट का अभिनय होता है, उन्हें आविद्ध प्रयोग वाले रूपक माना गया है। नाट्यशास्त्र इनका अभिनय पुरुष पात्रों द्वारा ही कराने के पक्ष में है।

भारतवर्ष का महत्त्व

दशरूप-विधान के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र ने भारतवर्ष के महत्त्व का भी वर्णन किया है। उसके अनुसार जिन रूपकों में संग्राम, विजय, शत्रुघ्न आदि का वर्णन होता है, उनका घटनास्थल भारतवर्ष ही बनाया जाना चाहिए, क्योंकि भारत ही कर्मभूमि है। अन्य लोक तथा देश तो केवल भोगभूमि मात्र हैं। नाट्यशास्त्र के शब्द हैं—

सम्भोगस्तेषु भवेत् कर्मारम्भो भवेदस्मिन् ॥ २०-१००

नाटक का महत्त्व

नाट्यशास्त्र समस्त रूपकों में नाटक को अधिक महत्त्व देता है। उसके अनुसार—

न तत् ज्ञानं न तत् शिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
 न तत् कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते ॥ २१-११८
 सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्मप्रवृत्तिभिः ।
 नानावस्थान्तरोपेतं नाटकं संविधीयते ॥ २१-१२२

ऐसा कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, कर्म तथा योग नहीं है, जो नाटक में न देखा जा सकता हो । नाटक सभी प्रकार के रसों, भावों, कर्म-प्रवृत्तियों तथा अवस्थाओं से युक्त होता है ।

नाट्यशास्त्र ने रूपक की सफलता का आधार सफल रसाभिव्यक्ति को ही माना है । जो रूपक सहृदयों के अन्दर रसानुभूति जाग्रत करने में समर्थ हो सके, उसे ही सफल कहा जाना चाहिए । अस्तु रस की दृष्टि से नाटक का अपना विशेष महत्व प्रतीत होता है । इसकी कथावस्तु प्रख्यात तथा मानव-सम्बन्धी होती है, जिससे प्रायः सभी परिचित होते हैं । अस्तु इसके प्रेक्षक को कथानक समझने में कोई कठिनाई नहीं होती । अतएव नाटककार को रस-चित्रण करने का पूरा अवकाश रहता है । सम्भवतः इसी कारण कालिदास तथा भवभूति के नाटक अधिक रसात्मक बन सके हैं ।

नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय में दो प्रकार की कथावस्तु का वर्णन मिलता है। उनमें से एक तो प्रख्यात अथवा ऐतिहासिक कथावस्तु है, तथा दूसरी उत्पाद्य अथवा नाट्यकार द्वारा कल्पित। नाटक आदि के लिए तो यहाँ प्रख्यात वस्तु का विधान हुआ है, तथा प्रकरण आदि के लिए उत्पाद्य का नाटिका के विषय में यहाँ कहा गया है, कि उसकी वस्तु नाटक और प्रकरण के भेद से उत्पन्न हुई होनी चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र प्रख्यात तथा उत्पाद्य दोनों के संयोग से मिश्र वस्तु को भी स्वीकार करता है। कुछ लोग यह कह सकते हैं, कि नाटक के लिए प्रख्यात वस्तु का विधान करके नाट्यशास्त्र ने नाटककार की कल्पना पर रोक लगा दी है, पर बात वस्तुतः ऐसी नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक कथानक के साथ-साथ प्रासंगिक कथानक देने की छूट देकर यहाँ नाटककार की कल्पना-शक्ति को पर्याप्त अवसर दिया गया है।

नाट्यशास्त्र में कथानक के लिए वस्तु तथा इतिवृत्त इन दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसीसर्वे अध्याय में जहाँ इतिवृत्त का विवेचन किया गया है, वहाँ उसे नाट्य का शरीर कहा गया है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में कई स्थलों पर 'वस्तु एवं शरीर'¹ ऐसा उल्लेख भी मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र वस्तु तथा इतिवृत्त को अलग-अलग मानता है। इससे अनुमान यह होता है, कि वस्तु तो यहाँ सामान्य रूप से कथा अथवा कहानी के लिए प्रयुक्त है, तथा इतिवृत्त घटनाओं के उस सुगठित ढाँचे को कहा गया है, जिसे नाट्यकार अभिनय-हेतु व्यवस्थित करता है। यह उचित भी प्रतीत होता है। क्योंकि नाट्यकार किसी नायक की पूरी की पूरी कहानी को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं करता, बल्कि अपने कौशल से वह उसकी कुछ चुनी हुई, घटनाएँ छाँट

लेता है, तथा उन्हें सुसम्बद्ध करके एक नया ढाँचा सा बना लेता है, तथा पात्रों एवं रसों का संयोग करके उसे एक सुन्दर नाट्य का रूप देता है। इस प्रकार किसी भी वस्तु अथवा कथा से इतिवृत्त अथवा घटनाओं का सुनियोजित ढाँचा तैयार करना एक कुशल नाट्यकार का काम होता है।

नाट्यशास्त्र में इतिवृत्त दो प्रकार का माना गया है। उनमें से एक अधिकारिक तथा दूसरा प्रासंगिक इतिवृत्त कहलाता है, जिस इतिवृत्त में गृहीत घटना चक्र से सम्बन्धित फल का अधिकारी नायक होता है, उसे यहाँ आधिकारिक अथवा प्रमुख इतिवृत्त माना गया है, तथा जिस इतिवृत्त की घटनाएँ सहायक रूप में वर्णित की जाती हैं, उसे प्रासंगिक इतिवृत्त कहा गया है। प्रासंगिक इतिवृत्त भी यहाँ पताका कथा प्रकरी भेद से दो प्रकार का माना गया है। जो वृत्त आधिकारिक वृत्त की सहायता के लिए योजित किया जाता है, तथा उसी की भाँति कुछ लम्बा भी होता है वह तो पताका है, एवं जो छोटा ही होता है, उसे प्रकरी कहा जाता है।

अवस्थाएँ

नाट्य के इतिवृत्त के अन्त में नायक द्वारा धर्म, अर्थ तथा काम से सम्बन्धित किसी फल की प्राप्ति करने का वर्णन होता है। इस फल-प्राप्ति के हेतु नायक जो कार्य-व्यापार करता है, नाट्यशास्त्र उसकी पाँच अवस्थाएँ मानता है। इन अवस्थाओं के नाम हैं—१-आरम्भ २-प्रयत्न, ३-प्राप्ति-सम्भव, ४-नियता फल प्राप्ति तथा ५-फलयोग। नायक के मन में फल की प्राप्ति के लिए औत्सुक्य का निबन्धन ही आरम्भ कहा गया है। फलयोग की प्राप्ति के लिए नायक द्वारा किया जाने वाला उपाय ही प्रयत्न है। जब नायक के किसी भाव द्वारा फल प्राप्ति की कुछ सम्भावना व्यक्त होने लगती है, तो इसे प्राप्ति सम्भव कहा जाता है। जब यह फल-प्राप्ति की सम्भावना निश्चित हो जाती है, तो उसे नियता फल-प्राप्ति कहा जाता है। नायक द्वारा किये गये कार्य-व्यापार के अन्त में जब अनुकूल फल पूर्णरूप में उपलब्ध हो जाता है, तो इसे फल योग कहा जाता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार ये पाँच अवस्थाएँ नायक के कार्य-व्यापार की हैं, जो इतिवृत्त में चित्रित किया जाता है। ये अवस्थाएँ इतिवृत्त में क्रमशः होती हैं। ये पाँच अवस्थाएँ आधिकारिक इतिवृत्त के लिये कही गई हैं।

प्रासंगिक के लिए इनका विधान नहीं है। आधिकारिक इतिवृत्त में भी नाट्यकार इन पाँच अथवा कुछ कम का ही चित्रण करने में स्वतंत्र रहता है, पर इनके कम करने का कुछ कारण अवश्य होना चाहिये।

अर्थप्रकृतियाँ

नाट्यशास्त्र में इतिवृत्त की उपर्युक्त पाँचो अवस्थाओं के प्रयोजन को सिद्ध करने वाली पाँच अर्थ प्रकृतियाँ भी वर्णित हैं। इनके नाम हैं १. बीज २. बिन्दु ३. पता का ४. प्रकरी तथा ५. कार्य। आरम्भ में छोटी तथा बाद में बढ़ने वाली वह बात बीजो कहलाती है, जो अन्त में फल-प्राप्ति का कारण बनती हैं। अस्तु बीज कथा वस्तु के आरम्भ का वह भाग है, जिसका कथन प्रारम्भ में सूक्ष्म रूप में किया जाता है, पर जो आगे चलकर बढ़ते-बढ़ते फल प्राप्ति का हेतु बनता है। फल प्राप्ति-पर्यन्त इतिवृत्त में अविच्छिन्नता बनाए रखने वाला तत्व ही बिन्दु कहा जाता है। कभी कभी नाट्य को घटनाओं की धारा अभीष्ट फल की दिशा से दूसरी ओर मुड़ने लगती है। अस्तु वह अभीष्ट दिशा में ही अविच्छिन्नता-पूर्वक आगे बढ़े इस हेतु नाट्यकार को सतर्क रहना पड़ता है, तथा पात्रों आदि की सहायता से उसे सही दिशा में मोड़ता है। इतिवृत्त को इस प्रकार का मोड़ देना अथवा उसे टूटने से बचाना ही बिन्दु कहलाता है। पता का और प्रकरी तो नाट्यकार द्वारा इतिवृत्त में जोड़ी गई प्रासंगिक कथाएँ हैं। नाट्यकारों द्वारा आधिकारिक कथा वस्तु की सुयोजना के हेतु वर्णित किया गया कार्य-व्यापार ही कार्य कहा जाता है।

अर्थ प्रकृति का तात्पर्य नाट्यार्थ का साधक उपाय प्रतीत होता है। इस प्रकार ये पाँचो अर्थ प्रकृतियाँ नाट्यार्थ को फल अर्थात् प्रमुख साध्य तक पहुँचाने वाले कवि-निबद्ध उपाय सिद्ध होते हैं। नाट्यशास्त्र के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि यह कोई आवश्यक नहीं है, कि नाट्यकार इन सभी उपायों का प्रयोग करे ही। उदाहरणार्थ पताका एवं प्रकरी जैसे प्रासंगिक-कथा-सम्बन्धी उपाय का प्रयोग रूपक में कोई आवश्यक बात नहीं है। चूँकि प्रारम्भ में संकेतित बीज ही विकसित होकर अंत में फल प्राप्ति का हेतु बनता है, इसलिए वह आवश्यक प्रतीत होता है। इसी भाँति साधन-सामग्री से सम्बन्धित कार्यकथ उपाय भी आवश्यक ही प्रतीत होता है। इन उपायों में सबसे आवश्यक उपाय

बिन्दु प्रतीत होता है। क्योंकि आरम्भ से लेकर अंत तक जहाँ कहीं भी घटना-प्रवाह टूटने लगता है, वहाँ सर्वत्र इसका प्रयोग आवश्यक होता है।

पताका-स्थानक

जब किसी एक घटना का प्रकरण चल रहा हो, तब उसके द्वारा अकस्मात् किसी भावी घटना की सूचना मिलने को नाट्यशास्त्र में पताका-स्थानक कहा गया है। ऐसी सूचनाएँ लाक्षणिक प्रयोगों, स्लिष्ट पदों, पात्रों के अनेकार्थक कथोपकथन, तथा द्वयर्थक काव्य-योजना के द्वारा दी जाने के कारण यहाँ उनके चार प्रकार बताये गये हैं। यहाँ यह भी कहा गया है कि नाट्य में इन चारों पताका-स्थानकों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

संधियाँ

नाट्यशास्त्र नाट्य में पाँच संधियों का भी विधान करता है। इनके नाम हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, तथा निर्वहण। रूपक के इतिवृत्त में जहाँ पर माना प्रकार के कार्यों तथा रसों के कारण रूप बीज की सृष्टि वर्णित होती है, वहाँ मुख संधि मानी जाती है। बीज जहाँ पर उद्भिन्य होकर कभी दिखाई देता है, तथा कभी छिप जाता है, वहाँ प्रतिमुख संधि मानी जाती है। जहाँ पर नष्ट हुए बीज का पुनः पुनः अन्वेषण किया जाता है, वहाँ गर्भ संधि मानी जाती है। फल की ओर अग्रसर होने वाला बीज जब अधिक विस्तृत रूप धारण कर लेता है, तो वहाँ विमर्श संधि मानी जाती है। मुलादि चारों संधियों में बिखरे हुये बीजार्य एकत्र होकर जब फल से युक्त होते हैं तो वहाँ निर्वहण संधि मानी जाती है।

उपर्युक्त पाँचों संधियाँ नाटक तथा प्रकरण के लिए हैं। विम तथा समवकार में विमर्श के अतिरिक्त शेष चार संधियाँ, व्यायाम तथा ईहामुग में गर्भ तथा विमर्श के अतिरिक्त शेष तीन संधियाँ एवं प्रहसन वीथी, अङ्क तथा भाण में केवल मुख तथा निर्वहण संधियाँ होती हैं। इसके आगे नाट्यशास्त्र में संधियों की इक्कीस प्रकार की विशेषताएँ अथवा सन्ध्यन्तर, चौसठ प्रकार के संधियों के अंग तथा उनके छः प्रयोजन बताये गये हैं। नाट्यशास्त्र किसी भी रूपक में इन समस्त संध्यङ्गों को आवश्यक नहीं बताता। उसके अनुसार तो

जहाँ जितने अंगों की आवश्यकता प्रतीत हो, वहाँ उतने ही लिए जाने चाहिए नाट्यशास्त्र में इस प्रसंग में किया गया सम्बन्धनों का वर्णन आज कुछ अस्पष्ट-सा प्रतीत होता है।

परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ दशरूपक में संधियों का विषय कुछ उलझा-सा दिया गया प्रतीत होता है। यहाँ नायक के व्यापार की आरम्भ आदि अवस्थाओं तथा इतिवृत्त की सिद्धि के बीज आदि उपायों के क्रमशः मिलने पर मुख आदि पाचों संधियों की उत्पत्ति कही गई है। अस्तु यहाँ आरम्भ और बीज के मिलने से मुख संधि, प्रयत्न और बिन्दु के मिलने से प्रतिमुख संधि प्राप्त्याशा और पताका के मिलने से गर्भसंधि, नियताश्रित और प्रकरी के मिलने से विमर्श संधि तथा फलागम और कार्य के मिलने से निर्वहण संधि की उत्पत्ति वर्णित है। स्पष्ट है कि दशरूपककार ने अर्थप्रकृतियों में भी क्रम मान लिया है, जो ठीक नहीं प्रतीत होता। कारण कि यह कहना अनुचित है कि बिन्दु केवल यत्न की अवस्था में ही रहेगा। उसका प्रयोग तो वहाँ सर्वत्र करना पड़ेगा, जहाँ भी घटनाक्रम में कोई विच्छेद उपस्थित होगा। इसी भाँति पताका और प्रकरी को भी क्रम में बाँधना अनुचित प्रतीत होता है। धनिक की दशरूपक-वृत्ति में सुग्रीव कथा को पताका तथा शबरी-कथा की प्रकरी कहा गया है। इस प्रकार प्रकरी को बाद में आना चाहिए था, पर रामायण में वह पहिले आती है।

नाट्यशास्त्र में न तो अवस्थाओं तथा अर्थप्रकृतियों के क्रमशः संयोग की ही बात कही गई है, और न इन दोनों के मिलने से संधि बनने की। यह उचित ही प्रतीत होता है। कारण कि नायक के कार्य-व्यापार की आरम्भ आदि अवस्थाओं से नाट्यकार द्वारा किये जाने वाले घटना-नियोजन के बीज आदि उपायों से क्रमिक सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं जा सकता। अस्तु नाट्यशास्त्र सीधे रूप में यही कहता है, कि मुलादि पाँच संधियाँ इतिवृत्त के पाँच भाग हैं, जो नायक के कार्य-व्यापार की आरम्भ आदि अवस्थाओं से ही सम्बन्धित हैं।

अर्थोपक्षेप

नाट्यशास्त्र सूच्य वृत्त की सूचना देने के हेतु पाँच अर्थोपक्षेत्रों का भी वर्णन करता है। इससे प्रतीत होता है कि वह इतिवृत्त के कुछ अंश को दृश्य

तथा कुछ को सूच्य मानता है। यहाँ वर्णित पाँच अर्थोपक्षेप हैं—१-विष्कम्भ २-चूलिका ३-प्रवेशक ४-अङ्कावतार तथा ५-अङ्कमुख। ये सभी सूच्यवृत्त की सूचना देने के कलात्मक ढंग हैं। नाट्यशास्त्र नाटक की मुखसन्धि के अंतर्गत मध्यम पुरुष-चरित्रों द्वारा दी गई सूचनाओं को विष्कम्भक कहता है। यह तो छुड़ कहलाता है, परन्तु यदि उसके अन्तर्गत अधन-चरित्रों का भी संयोग हो जाता है, तो उसे मिश्र विष्कम्भ कहा जाता है। परदे के अन्दर से दी जाने वाली सूचना चूलिकाएँ कही गई हैं। प्रवेशक का प्रयोग नाटक एवं प्रकरण के दो अङ्कों के मध्य में सन्धियों का संक्षेपार्थ बताने के लिए किया जाता है। अङ्कावतार के द्वारा एक ही अङ्क में दूसरे अङ्क के वृत्त की सूचना दे दी जाती है। जब अङ्क के आरम्भ में किसी स्त्री अथवा पुरुष पात्र द्वारा उस अङ्क के संक्षेपार्थ की सूचना दी जाती है, तो उसे अङ्कमुख कहते हैं। इस प्रकार नाट्य-शास्त्र में अर्थोपक्षेपों का संक्षिप्त वर्णन मिलता है।

नाट्यशास्त्र कहता है कि नाट्यकार को चाहिए कि वह अर्थप्रकृतियों, सन्धियों, सन्ध्यों, अर्थोपक्षेपों आदि को दृष्टि में रखकर कथा वस्तु से समुचित घटनाओं का चयन करके उनका व्यवस्थित ढाँचा तैयार करे। यह सुव्यवस्थित ढाँचा ही इतिवृत्त, अथवा नाट्य का शरीर है। अस्तु इसके सँजोने में नाट्यकार को कौशल से काम लेना चाहिए। भले ही कोई रूपक अर्थ की दृष्टि से हीन भी हो, परन्तु यदि उसके इतिवृत्त का ढाँचा सर्वांग-परिपूर्ण होगा, तो उसका प्रयोग सुन्दर रूप में हो सकता है। इसके विरुद्ध यदि उसका इतिवृत्त सर्वांग-परिपूर्ण नहीं होगा, तो श्रेष्ठ रूपक होने पर भी उसका प्रयोग सुन्दर न हो सकेगा।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्य में इतिवृत्त का कुछ भाग तो ऐसा होता है, जिसका वाचिक अभिनय होने पर उसे सब लोग सुनते हैं तथा जिसे सर्वश्राव्य कहा जाता है और कुछ भाग ऐसा होता है, जिसका अभिनय नाट्य-धर्मिता के ढंग से किया जाता है। नाट्यधर्म वस्तुतः प्रचलित नाट्य-रूढ़ियाँ ही हैं। नाट्यशास्त्र कहता है—

आसन्नोक्तं तु यद् वाक्यं न शृण्वन्ति परस्परम् ।

अनुक्तं श्रूयते वाक्यं नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ १४-६७

अर्थात् रूपक में कभी २ निकट कही हुई बात भी नहीं सुनी जाती, और न कही हुई बात भी सुन ली जाती है। कहने पर भी न सुनी हुई मानी जाने वाली बातें, स्वागत-कथन, जनान्तिक आदि हैं। रूपक में जब कोई पात्र अपने मन ही मन कोई बात कहता है, वही स्वगत-कथन है, तथा दो पात्रों की गुप्त-वार्ता जनान्तिक। ये बातें यद्यपि सबके सुनने के हेतु नहीं होतीं, फिर भी घटना-प्रवाह को आगे बढ़ाने हेतु ये सबके सम्मुख कही जाती हैं तथा यह मान लिया जाता है कि मानो इन्हें कोई अन्य नहीं सुन रहा। इतिवृत्त के ऐसे भाग को अध्राव्य तथा नियत-ध्राव्य कहा जाता है। इसके अतिरिक्त उसका कुछ अंश ऐसा भी होता है, जिसका शब्दशः कथन नहीं किया जाता, परन्तु उसे सुना हुआ मान लिया जाता है। इस अंश को आकाश भाषित कहा जाता है।

सुखान्तता

नाट्यशास्त्र में किसी लोक-साधक धार्मिक व्यक्ति के ही नायक बनने का विधान है। साथ ही यहाँ यह भी विधान है कि रूपक के अन्त में उसके द्वारा फलप्राप्ति का वर्णन किया जाना चाहिए। यहाँ वरदान-प्राप्ति वर्णन से ही रूपक के उपसंहार का विधान है। अस्तु स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपक अन्त में नायक अर्थात् धार्मिक व्यक्ति की सफलता का ही वर्णन होना चाहिए। इसी से भारतीय नाटक प्रायः सुखांत ही होते रहे हैं, दुःखान्त नहीं। इसे देखकर कुछ लोग भारतीय रूपकों पर अयथार्थता का दोष लगाते हैं। संसार में भी देखा जाता है, कि भले व्यक्ति को सदैव ही अन्त में सफलता नहीं मिल पाती। प्रायः तो यह देखा जाता है, कि भले व्यक्ति को तो नियति के क्रूर चक्र में पड़कर असफल होना पड़ता है, तथा सफलता पर बुरे लोगों का अधिकार होता है। अस्तु भले व्यक्ति को भला ही परिणाम मिलेगा, यह कोई यथार्थ बात नहीं है। इस भाँति भारतीय रूपकों का इस प्रकार का वर्णन अयथार्थ तथा अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

इस समस्या को यदि प्राचीन भारतीय संस्कृति के परिदृश्य में देखा जाय, तो इसका समाधान प्राप्त किया जा सकता है। भारत में कर्मसिद्धान्त की मान्यता बहुत पुराना है। अच्छे कर्म का परिणाम अच्छा तथा बुरे का परिणाम बुरा होता है, यह यहाँ की मान्यता रही है। 'सत्यमेव जयते' की ध्वनि भी यही है

कि अन्त में सदा सत्य अथवा भलाई की ही विजय होती है। इस मान्यता के आधार पर ही भारतीय रूपकों के अन्त में धार्मिक नायक की सफलता दिखाकर ही उनकी समाप्ति की जाती रही है। इसी से जिन अवसरों पर भलाई की हार की सम्भावना दृष्टिगत होने लगती थी, वहाँ भारतीय नाट्यकार देवताओं आदि की सहायता का वर्णन करके स्थिति को सम्भाल लेते रहे हैं। शकुन्तला नाटक की नायिका जब नायक द्वारा अस्वीकृत की जाती है और उसके दर-दर ठोकर खाने की नौबत आ जाती है, तो नाट्यकार वहाँ एक अप्सरा भेज कर स्थिति संभाल लेते हैं, जो शकुन्तला को साथ ले जाती है। इस प्रकार भारतीय रूपकों की सुखान्तता यहाँ के कर्म-सिद्धान्तनुसार ही प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति में सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म की ही एक मात्र सत्ता मानी जाती रही है। अस्तु जब सारे जगत में आनन्द ही आनन्द व्याप्त है, तो फिर दुःख कहाँ? वह तो अपने मन की ही काल्पनिक उपज है। भारतीय रूपकों के सुखान्त होने में इस भावना का भी सहयोग हो सकता है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि वह रूपक की इतिवृत्त-योजना पर बहुत जोर देता है। इतिवृत्त के विभिन्न अंगों का विस्तृत वर्णन करके उसने अपने युग का तथा भावी भारतीय नाट्यकारों का सुन्दर मार्गदर्शन किया है।

सप्तम परिच्छेद

पात्र

नाट्यशास्त्र में विविध पात्रों का वर्णन विस्तार से हुआ है। यहाँ न केवल अभिनेता पात्रों का ही, अपितु नाट्यकार (लेखक) तथा नाट्योपकरण बनाने वाले पात्रों का भी वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रेक्षकों तथा निर्णायकों का भी विशद-वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है, जिसकी चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ के नाट्य-सफलता नामक परिच्छेद में की जा चुकी है।

नाट्यशास्त्र के सत्ताइसवें अध्याय के अन्त में श्रेष्ठ अभिनेता को नाट्य की सफलता के प्रमुख कारणों के अन्तर्गत माना गया है। वहाँ कहा गया है कि यही नाट्य सफल होता है, जिसके पात्र बुद्धि, बल एवं सौन्दर्य से युक्त, लय, ताल, रस तथा भाव के ज्ञाता, अनुरूप वय वाले, कला-ज्ञान के ग्रहण तथा धारण में समर्थ, नृत्य-गीत में दक्ष साहसी तथा उत्साही हों। अस्तु नाट्यशास्त्र अभिनेता को ठीक ही महत्व प्रदान करता है; क्योंकि अभिनय का सफल होना तो श्रेष्ठ अभिनेता पर ही निर्भर होता है।

नाट्यशास्त्र के चौतीसवें अध्याय में विभिन्न प्रकार के पात्रों का विस्तृत विवेचन हुआ है। यहाँ स्त्री तथा पुरुष दोनों प्रकार के पात्रों का उल्लेख हुआ है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में ही भरत ब्रह्मा से कहते हैं कि शृङ्गार रस से सम्बन्धित कविकी वृत्ति का सफल अभिनय स्त्रियों द्वारा ही संभव है, पुरुषों द्वारा नहीं। इस पर ब्रह्माजी अप्सराओं की सृष्टि करके उन्हें अभिनय-हेतु भरत को प्रदान करते हैं। इससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी पात्र बनाने के पक्ष में है।

नाट्यशास्त्र में स्त्री, पुरुष पात्रों की प्रकृति के अनुसार उत्तम, मध्यम तदग्रम या तीन प्रकार बताए गये हैं। यहाँ इन्द्रियजयी, बुद्धिमान, शिल्पों तथा कलाओं के ज्ञाता, ईमानदार, आस्वादकुशल, शास्त्रज्ञ, गम्भीर तथा उदार पुरुष

पात्र को उत्तम कोटि का कहा गया है। लोक व्यवहार, कला, शिल्प एवं शास्त्रों में कुशल तथा बुद्धि एवं माधुर्य से युक्त पुरुष-पात्र मध्यम कोटि का माना गया है। कर्कशवाणी वाले, दुर्व्यवहार-युक्त, नीच एवं अपराधी प्रकृति वाले, मित्रों समेत किसी का भी बध कर सकने वाले, सत्पुरुषों का अपमान करने वाले, स्त्रियों से छेड़खानी करने वाले, तुच्छ, कृतघ्न, झगड़ालू, धोखा देने वाले एवं कुकर्मी पुरुष-पात्र अधम कोटि के कहे गये हैं।

कोमल स्वभाव वाली, अचञ्चल, हँसकर बोलने वाली, क्रूरता-रहित, गुरुजनों का आदर करने वाली, सज्जा-शील, सदाचारिणी, गम्भीर, सहिष्णु एवं नैसर्गिक सौन्दर्य तथा उदात्त गुणों से युक्त अभिनेत्री को नाट्यशास्त्र उत्तम कोटि का स्त्री पात्र मानता है। जिस स्त्री में उपर्युक्त गुण कम मात्रा में हों, तथा वे सदैव न रहते हों, एवं उनके कुछ दोषों का मिश्रण भी हो, उसे मध्यम कोटि का स्त्री-पात्र कहा गया है। अधम-स्त्री पात्र की विशेषताएँ प्रायः वही हैं, जो अधम पुरुष-पात्र में होती हैं।

उपयुक्त पात्र-भेदों के साथ ही नाट्यशास्त्र कुछ मिश्रित प्रकृति वाले पात्रों का भी उल्लेख करता है। ऐसे पात्रों में चेटी, सकार, बिट एवं सँड की गणना की गई है।

नाट्यशास्त्र में पात्रों का वर्गीकरण, उनकी निवृत्ति अथवा कार्य के अनुसार भी किया गया है। इसके अनुसार समस्त पात्रों को आभ्यन्तर तथा बाह्य दो वर्गों में विभाजित किया गया है। राजा अथवा नायक के आन्तरिक अर्थात् राजमहल के कार्यों से सम्बन्धित पात्रों को आभ्यन्तर तथा राजमहल से बाहर जन कार्य करने वाले पात्रों को बाह्य कहा गया है। आभ्यन्तर पात्रों के अन्तर्गत यहाँ महादेवी, देशी स्वामिनी, स्थायिनी, भोगिनी; शिल्पकारिणी, नाट-कीया, नर्तकी, अनुचारिका, परिचारिका, सञ्चालिका, प्रेषण-चारिका, महत्तरी, प्रतिहारी, कुमारी, स्थविरा, आयुक्तिका स्नातक, कञ्चुकी, वर्षधर, तथा निमुण्ड की गणना की गई है।

आभ्यन्तर पात्र

महादेवी मूर्धाभिषिक्त प्रधान राज-महिषी है, जो कुलीन एवं चरित्र

सम्पन्न प्रौढ़ महिला होती है। वह ईर्ष्या-द्वेष एवं क्रोध से रहित, राजा से प्रेम करने वाली, शान्त, सन्तुष्ट तथा अन्तःपुर के लिये उदार होती है। देवी भी राजा की पत्नियाँ हैं, जो सम्भवतः कई होती थीं। ये भी राजवंश की ही कन्याएँ होती थीं, तथा इसमें भी महादेवी-वाली प्रायः सभी विशेषताएँ कही गई हैं। अन्तर केवल इतना है कि इनका भूषाभूषिक नहीं होता। ये युवतियाँ, सुसज्जित रहने वाली तथा राजा के प्रेम के लिये आतुर कही गयी हैं। इनके अन्दर अपनी सपत्नियों के लिये ईर्ष्या का भी होना कहा गया है। यदि राजा सौन्दर्य तथा गुणों के प्रति आसक्त होकर सेनापतियों तथा मन्त्रियों की कन्याओं को पत्नी रूप में स्वीकार कर लेता था, तो ये स्वामिनी कही जाती थीं। स्वाधिनी राजा की साधारण पत्नियाँ थीं, जो अल्प वयस्का तथा सुन्दरी होती थीं, एवं सपत्नियों के प्रति ईर्ष्यालु होती थीं। भोगिनी राजा द्वारा भोग हेतु रख ली जाने वाली स्त्रियाँ थीं, जो दक्ष, ईर्ष्या-हीन, एवं मृदु होती थीं।

इस भाँति उक्त पाँच प्रकार के स्त्री-पात्रों के वर्णन से स्पष्ट है कि ये सभी राजा की पत्नियाँ थीं। इससे प्रतीत, होता है, कि नाट्यशास्त्र-युगीन राजा लोगों के अनेकों पत्नियाँ हुआ करती थीं। भास के स्वप्नवासवदत्त नामक नाटक में भी महासेन की रानी को 'पोडशान्तः पुरे ज्येष्ठा' अर्थात् सोलह रानियों में सबसे बड़ी कहा गया है। इससे नाट्यशास्त्र के इस वर्णन का समर्थन होता है।

अगला आम्बन्तर स्त्री-पाप शिल्पकारिणी है। ये ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो विभिन्न कलाओं एवं शिल्पों में दक्ष, तथा सौम्य एवं विनीत हुआ करती थीं। रूप, गुण, तथा उदारता से युक्त उन स्त्रियों को नाटकीया कहा जाता था, जो सुमधुर-भाषिणी, संगीतज्ञ, तथा सत्व, भाव एवं हेल्लादि के प्रदर्शन में कुशल होती थीं। अन्तःपुर में होने वाले नाट्यों में ये स्त्रियाँ ही समस्त अभिनय किया करती थीं। नर्तकियाँ नाचने-गाने में कुशल स्त्रियाँ थीं। अनुचारिकाएँ वे स्त्रियाँ थी, जो निरन्तर राजा के साथ रहकर उनकी सेवा करती थीं। परिचारिकाएँ राजा की कुछ विशेष सेवाओं में नियुक्त स्त्रियाँ थीं, जो उसके क्षत्र, चामर तथा आभूषणादि-सम्बन्धी कार्य करती थीं। संचारिकाएँ वे राज सेविकाएँ थीं जो राजमहल के विभिन्न भागों, मन्दिरों तथा उपवनादि में भ्रमण करती, तथा समयसूचक घंटा बजाने का कार्य करती थीं। राजा की प्रणय सम्ब-

नधी गुप्त सूचनाएँ ले जाने वाली सेविकाएँ प्रेषण आरिकायें कहलाती थीं। राजा समस्त राज-परिवार के कल्याण एवं राजा के वैभव के लिये भगवान से प्रार्थना करने वाली स्त्रियाँ महत्तरी कहलाती थीं। राजा के प्रति विभिन्न राज-कार्यों का निवेदन करने वाली स्त्रियाँ प्रतिहारी कहलाती थीं। रति सुलानुभव से रहित, नुदु एवं सज्जा-शीला कन्याएँ कुमारियाँ कही जाती थीं। राजा के पिता के समय से सेवा में लगी हुई एवं पूर्वरीतियों तथा विभिन्न रानियों के स्वभाव की जानकारी सेविकाएँ वृद्धा कहलाती थीं। जो सेविकाएँ भण्डार का प्रबन्ध तथा राजा के लिये बनाये गये भोजन का परीक्षण आदि करती थीं, उन्हें आनुक्तिका कहा गया है।

उपयुक्त सत्रह प्रकार के स्त्री पात्रों के अतिरिक्त राजमहल से सम्बन्धित कुछ अन्य पात्र भी यहाँ गिनाये गये हैं। इनमें स्नातक, कञ्चुकीय, वर्षधर एवं निर्मुण्ड हैं। उनमें से स्नातक द्वार की रक्षा करने वाला व्यवहार कुशल ब्राह्मण होता था। कञ्चुकीय, राज्य-कार्य से सम्बन्धित सेवक कहा गया है, जो ज्ञानी, सत्यवादी, तथा काम-दोषों से रहित होता था। वर्षधर राजा के प्रणय सन्देश-हर-सेवक हैं जो चतुर तथा नपुंसक होते थे। निर्मुण्ड, स्त्रियों तथा कुमारियों की रक्षा के हेतु नियुद्ध सेवक हैं, जो नपुंसक होते थे। नाट्यशास्त्र में निर्मुण्ड के पूर्व औपस्थायिक विशेषण जुड़ा हुआ है। इससे कुछ लोगों का अनुमान है, कि ये ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके उपस्थ का अग्र भाग कटा रहता होगा इस प्रकार उपयुक्त समस्त पात्र राजमहल से सम्बन्धित अर्थात् आभ्यन्तर पात्र हैं।

बाह्यपात्र

बाह्य पात्रों में नाट्यशास्त्र, राजा, सेनापति, पुरोधा, मंत्री, सचिव, प्राङ्ग-वाक, कुमार-धिकृत, तथा सभास्तार की गणना करता है। इनमें राजा को बुद्धिमान, सत्यवादी, इन्द्रियजित, चतुर, चरित्रवान, स्मृतिशील शक्तिवाली, उदार-मना, दूरदर्शी, उत्साही, कृतज्ञ, मधुरभाषी, लोक-रक्षक, दक्ष, शास्त्र में कुशल होना चाहिए। इसके साथ ही उसे अपनी स्थिति तथा उन्नति-अवनति, शत्रुकी दशा एवं धर्म का ज्ञान होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे बुरी आदतों से रहित होना चाहिए। सेनापति को चरित्रवान, सत्यवादी, दक्ष-आलस्य रहित एवं मधुर-भाषी, शत्रु के मर्मस्थलों, तथा आक्रमण के अवसर का ज्ञाता, अर्थशास्त्र का ज्ञाता

राजभक्त, स्वजाति समाहत, तथा देश काल का ज्ञाता होना चाहिए। पुरोधा तथा मन्त्री को कुलीन, बुद्धिमान, श्रुति तथा धार्मिक होना चाहिए। सचिवों को बुद्धिमान, नीतिज्ञ, शक्तिशाली, मधुरभाषी, अर्थशास्त्र तथा अपने अधिकृत विषय में दक्ष, एवं धार्मिक होना चाहिए।

प्राइविशक अथवा न्यायाधिकारी को अभियोग तथा आर्थिक व्यवहार का तत्त्वज्ञ, बुद्धिमान अनेक शास्त्रों का ज्ञाता, निष्पक्ष, धार्मिक, चतुर अच्छे बुरे कार्यों का पहिचानने वाला, सहनशील, संयत, अक्रोधी तथा सबके साथ समान व्यवहार करने वाला होना चाहिए। कुमाराधिकृत को दक्षता, निरलसता, अनुशासन तथा चतुर्यं आदि से युक्त होना चाहिए। इसे तर्कादि शास्त्रों का ज्ञाता तथा कामादि दोषों से रहित भी होना चाहिए। कुमाराधिकृत सम्भवतः राजकुमारों का संरक्षक होता था। सभास्तार अथवा सभासदों की नियुक्ति वृहस्पति जी के सिद्धान्तों के अनुसार की जाना चाहिए। कुछ विद्वानों के मत में ये सभास्तार केवल राजसभा में बैठने वाले लोग ही थे। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों के अनुसार ये शासन में सहायता करने वाले, तथा कुछ के अनुसार सभा में उपस्थित लोगों को धर्मवाक्य सुनाने वाले व्यक्ति थे। इन सभी को नाट्यशास्त्र ने बाह्यपात्र कहा गया है।

नायक, नायिका तथा विदूषक

नाट्यशास्त्र में नायक, नायिका तथा विदूषक के बार-बार प्रकार बताते हुए इनका अलग से वर्णन हुआ है। इससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र इन पात्रों को प्रमुख मानता है। नायक की परिभाषा बतलाते हुए नाट्यशास्त्र कहता है, कि जो पुरुष पात्र अनेकों विपत्तियों तथा अनेक संघर्षों को झेलकर अन्ततः सफलता प्राप्त करता है, उसे नायक कहा जाता है। नाट्यशास्त्र यह भी कहता है कि यदि एक ही नाटक में इस प्रकार के अनेक व्यक्ति हों तो जिसका संघर्ष तथा साफल्य प्रमुख हों उसे नेता माना जाना चाहिए। नायक में सामान्य रूप में विनय, मधुरता, त्याग, दक्षता, प्रियभाषिता, लोकरञ्जकता, शुचिता, वाग्मिता, कुलीनता, बुद्धि उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला, भान, शूरता, दृढ़ता, तेजस्विता, शास्त्रज्ञता तथा धार्मिकता आदि गुण होने चाहिए नायक अपने स्वभावानुसार चार प्रकार का कहा गया है। ये प्रकार हैं—

१-धीरीद्वत २-धीरललित ३-धीरोदात्त एवं ४-धीर प्रशान्त । नाट्यशास्त्र के अनुसार देवता नायक धीरोद्वत, राजा नायक धीरललित, मंत्रीनायक धीरोदात्त तथा ब्राह्मण नामक धीरप्रशान्त होना चाहिए । इस भाँति नाट्यशास्त्र के अनुसार देवता, राजा, मंत्री तथा ब्राह्मण ही नायक बनने के पात्र प्रतीत होते हैं, तथा इन सभी में धीरता अर्थात् सामान्य बुद्धिमानी का होना आवश्यक कहा गया है । इन चार प्रकार के नायकों के साथ विदूषक के रूप में क्रमशः सन्यासी ब्राह्मण, द्विज, तथा शिष्य होना चाहिए । अर्थात् देवता के साथ सन्यासी, राजा के साथ ब्राह्मण, मंत्री के साथ कोई द्विज तथा ब्राह्मण के साथ उसका शिष्य विदूषक होना चाहिए, जिसे नायक से भिन्नवत व्यवहार करना चाहिये, तथा वाक्पुट होना चाहिए । इसके साथ ही विदूषक को बौना, बड़े दाँतवाला, कुबड़ा, गज्जा तथा दोहरी भाषा बोलनेवाला होना चाहिए । पैतृसर्वे अध्याय में विदूषक की विशेषताएँ बताते हुए कहा गया है कि उसे जनता के आनन्द का ध्यान रखने वाला, सभी की अनुकृति कर सकने वाला, स्त्रियों से व्यवहार रखने वाला, अपनी मुक्तियों से दूसरों को निरुत्तर कर देने वाला तथा चतुर होना चाहिए । शृङ्गार रस के प्रसंग में नायिकाओं के प्रति व्यवहार करने की दृष्टि से नायक के अनुकूल, दक्षिण, गठ तथा ध्रुष्ट ये चार प्रकार और गिनाये गये हैं । साथ ही इस रस के प्रसंग में उसके व्यवहार एवं गुणों के भेद से कुछ और भी प्रकार गिनाये गये हैं ।

नायिका-भेद

नाट्यशास्त्र के अनुसार देवी (देवता) रानी, कुलीन स्त्री तथा वेश्या ये चार प्रकार की स्त्रियाँ नायिका बनाई जा सकती हैं । ये चारों अपने चरित्र के अनुसार धीरा, ललिता, उदात्ता तथा निभृता इन चार प्रकारों की हो सकती हैं । देवियों तथा रानियों में धैर्य-लालित्य आदि चारो गुण होने चाहिए, कुलीन स्त्रियों में केवल धीरता के गुण को आवश्यक समझता है, वैसे ही सभी नायिकाओं में उदात्तता के गुण को । इसके अतिरिक्त सुन्दर-सुन्दर रूप एवं गुण, अल्पवय तथा माधुर्य आदि को नायिका के सामान्य गुण माना गया है । नाट्यशास्त्र ऐसी स्त्री को नायिका बनाने का निषेध करता है, जो असमय में हँसने वाली, मुरुप तथा श्रोत्रिणी आदि हो ।

उक्त प्रकारों के अतिरिक्त नायिका के स्वीया, अन्या तथा साधारण स्त्री ये तीन भेद भी किये गये हैं। इसमें से स्वीया तो स्वकीय विवाहिता है, तथा अन्या कोई परकीय विवाहित अथवा अविवाहित। यहाँ कहा गया है कि परकीय विवाहिता से सम्बन्धित शृङ्गार अंगीरस की कोटि नहीं प्राप्त कर सकता। इससे प्राचीन भारत की नैतिकता की शलक मिलती है। साधारण स्त्री, वेश्यादि को कहा गया है। इसके अतिरिक्त अपने प्रति किये जाने वाले नायक के व्यवहार-भेद से नाट्यशास्त्र में नायिका के आठ और भेद किये गये हैं। इनके नाम हैं— १ वासकसजा २. विरहोत्कण्ठिता ३ स्वाधीन-भर्तृका ४. कलहान्तरिता ५. खण्डिता ६: उपलब्धा ७. प्रोपितभर्तृका तथा ८. अभिसारिका। नायक के साथ सम्भोग की लालसा से अपने को सुसज्जित करने वाली नायिका को रासक सजा कहते हैं। किसी उचित कार्य में फँस जाने के कारण जब नायक उचित अवसर पर नायिका के पास नहीं पहुँच पाता, तो उस विरहिणी को विरहोत्कण्ठिता कहा जाता है। स्वाधीन भर्तृका वह प्रमुदित नायिका है, जिसका नायक उसके अधीन एवं पारम्बवर्ती होता है। जिस नायिका का प्रिय कलहादि के कारण बाहर चला जाता है, और वह पश्चाताप करती है, उसे कलहान्तरिता कहा जाता है जिसका प्रिय किसी अन्य प्रेमिका के प्रेम में फँसकर उचित समय पर नहीं लौटता, तथा जो अन्य प्रेमिका के साथ प्रिय के सम्भोग की बात जान लेती है, उसे खण्डिता कहा गया है। जिसका प्रिय संकेत देकर भी समय पर उपस्थित नहीं होता, उस वञ्चिता नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं। किसी गुरु-कार्य-वशा जिसका प्रिय बाहर चला जाता है, ऐसी साज शृङ्गार-रहित नायिका प्रोपित भर्तृका गृहलाठी है। जो लज्जा छोड़कर काम के वशीभूत होकर स्वतः ही प्रिय के पास रमण-हेतु उपस्थित होती है, उसे अभिसारिका नायिका कहा जाता है।

उपयुक्त नायिका-भेदों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के चौबीसवें तथा पच्चीसवें अध्यायों में सत्व-विशेष की प्रधानता तथा अन्य विशेषताओं के भेद से स्त्रियों अथवा नायिकाओं के अन्य अनेक भेदोपभेद गिनाये गये हैं। नाट्यशास्त्र में वर्णित समस्त नायिका-भेद शृङ्गार के ही रूपकों से सम्बद्ध प्रतीत होता है। संस्कृत के रूपकों में भी ये नायिकाएँ केवल शृङ्गारिक रूपकों में ही उपलब्ध होती हैं।

नाट्यशास्त्र के पैंतीसवें अध्याय के अन्तर्गत सूत्रधार, परिवारिक, विट, शकार तथा चेट आदि की विशेषताएँ बताई गयी हैं, जिनका परिचय नीचे दिया जा रहा है।

सूत्रधार

नाट्यशास्त्र में, शिष्टों द्वारा उपदिष्ट नीत, वाद्य तथा पाठ्यादि के सिद्धान्तों के सम्यक् रूप से धारण करने वाले व्यक्ति को सूत्रधार कहा गया है। सूत्रधार की विशेषताएँ बताते हुए नाट्यशास्त्र कहता है, कि सूत्रधार अथवा नाट्यमंडली के संचालक को नाट्य-संबंधी प्रत्येक विषय का विशेषज्ञ, सुसंस्कृत भाषा बोलने वाला, तथा रस, भाव, लय एवं ताल का ज्ञाता होना चाहिए। उसे गायन, वादन, धर्म-तत्प्रदाय अर्थशास्त्र नीति, शिल्प, कला, काव्यशास्त्र, ज्योतिष भूगोल, इतिहास तथा अन्य शास्त्रों आदि का कुशल ज्ञाता होना चाहिए। इन योग्यताओं से युक्त व्यक्ति को ही सूत्रधार अथवा नाट्यशिक्षक बनना चाहिए। उक्त अर्जित गुणों के अतिरिक्त सूत्रधार में स्मृति, प्रज्ञा, शान्ति, उदारता, दृढ़ता, भावुकता, स्वास्थ्य, मधुरता, सहनशीलता, पित्र्यवादिता, निष्पक्षता एवं निर्लोभिता अदि गुण स्वाभाविक रूप से होने चाहिए।

परिपार्श्वक

सूत्रधार से कुछ कम गुण वाले मध्यमश्रेणी के व्यक्ति को परिपार्श्वक कहते हैं, जो सूत्रधार का सहायक होता है।

विट

वेश्याओं से कार्य-व्यवहार करने में कुशल उस पात्र को विट कहते हैं, जो नाट्य-प्रयोग-सम्बन्धी प्रायः उन समस्त विषयों का ज्ञाता होता है, जिनका उल्लेख सूत्रधार के प्रसंग में हुआ है। इस व्यक्ति को मधुरभाषिता, निष्पक्षता भावुकता तथा चातुर्य आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।

शकार

शकार की विशेषताएँ बताते हुए नाट्यशास्त्र कहता है कि, वह अच्छे

वस्त्राभूषण पहिनेवाला, अकारण क्रुद्ध तथा प्रसन्न होने वाला तथा मागधी अथवा शकारी भाषा बोलने वाला अधम पात्र है। यह शकार कौन होता है, तथा इसका क्या कार्य है, यह नाट्यशास्त्र ने नहीं बताया। अन्य नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थों में इसे राजा की रखैल पत्नी का भाई तथा 'श' का अधिक प्रयोग करने वाला कहा गया है। सम्भवतः ये बातें नाट्यशास्त्र के युग ने बहु-प्रचलित नहीं होंगी। इसी से यहाँ उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी गई।

घेट

घेट अर्थात् राज-सेवक की विशेषताएँ बताते हुए नाट्यशास्त्र कहता है कि वह क्षत्रिय, बकवासी, विलक्षण, दबाव से काम करने वाला तथा सज्जन-दुर्जन को पहिचानने वाला होता है।

नाट्यमंडली

नाट्यशास्त्र में नाट्यमण्डली तथा उसमें रहने वाले सदस्यों का भी विवरण मिलता है। नाट्यमण्डली के सदस्यों में यहाँ भरत, विदूषक, तौरिय, सूत्रधार, नाट्यकार, नट, नाटकीया, मुकुटकार, उपाभरणकार, मालाकार, वेशकार, रञ्जक, चित्रकार, कारू, शिल्पकार तथा कुशीलव आदि की गणना की गई है। भरत की विशेषताएँ बताते हुए यहाँ कहा गया है, कि वह नाट्य का प्रमुख अभिनेता है, तथा यथावसा अभिनय की अनेकों भूमिकाएँ स्वयं ग्रहण करता है, एवं विभिन्न प्रकार के वाद्य भी बजाता है। इस भाँति नाट्य की आवश्यकताओं का भरत अर्थात् पूर्ति करने का कारण उसे भरत कहा गया है। विदूषक सम्बन्धी चर्चा तो पीछे हो ही चुकी है। अनेको वाद्ययंत्रों में कुशल व्यक्ति को यहाँ तौरिय कहा गया है। इसके पास वाद्ययंत्र भी रहते थे, और यह सम्भवतः गाने में भी कुशल होता था। नट यहाँ अभिनेता को कहा गया है, जो मनुष्यों की कथाओं, रसों तथा भावादिकों का अभिनय करता है। सूत्रधार के विषय में पीछे चर्चा हो चुकी है। नाटकादि ग्रन्थों की रचना करने वाला नाट्यकार है, तथा नट और नाटकीया क्रमशः पुरुष अभिनेता एवं स्त्री अभिनेत्री। मुकुट आदि वस्तुओं का निर्माता मुकुटकार कहलाता था तथा गहने बनाने वाला आभरणकार। मालाकार मालाएँ बनाता था तथा वेशकार पात्रों को वस्त्रादि पहिनाकर सजाता था। रञ्जक वस्त्र धोने तथा रंगने का, चित्रकार, चित्र बनाने

का तथा कार लाक्षादि से विभिन्न वस्तुएँ बनाने का कार्य करता था। इसके अतिरिक्त अन्य शिल्पों से सम्बन्धित कार्य करने वाले शिल्पकार भी मण्डली में रहते थे, जो अपने आर्य के नाम से जाने जाते थे। कुशीलव विभिन्न वाद्यों के वादकों को कहा जाता था, जो अपने वाद्य में कुशल होते; तथा वाद्य बजाने में रियाजी अर्थात् न धकने वाले होते थे।

नाट्यमण्डली के सदस्यों के विवरण से प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के युग में ये मण्डलियाँ विभिन्न स्थानों में धूम-धूम कर नाट्य-प्रदर्शन किया करती थीं। यदि वे एक स्थान पर स्थायी रूप से रहतीं, तो सम्भवतः उनके अन्तर्गत रंजक, मुकुटकार तथा शिल्पकारादिके रखने की आवश्यकता न होती। सम्भवतः प्राचीन युग में यातायात की व्यवस्था आज की भाँति सुगम न रही होगी। अतः नाट्य-मण्डलियाँ अपने साथ नाट्य-सम्बन्धी विविध उपकरण साथ लेकर न चल पाती रही होंगी। अतएव उन्हें विविध शिल्पी भी साथ रखने पड़ते थे, जो देश-काल-नुकूल उपकरण तत्काल तैयार कर देते थे।

यहाँ नाट्यमण्डली के सदस्यों में नाट्यकार की भी गणना हुई है। इससे प्रतीत होता है, कि मण्डलियाँ केवल प्रसिद्ध और प्रचलित रूपकों का ही अभिनय नहीं करती थी, वरन् अहाँ नाट्य-प्रदर्शन करना होता होगा, वहाँ के लोगों की रुचि के अनुकूल तत्काल नये रूपक रचवाकर उनका भी प्रयोग करती रही होंगी। इसका एक प्रयोजन और भी हो सकता है। वह यह कि अपने नाट्य-कार द्वारा रचित रूपक पर केवल अपना ही स्वत्व रखने की दृष्टि से भी मण्डली में अपना नाट्यकार रखा जा सकता है।

पात्र-विवेचन का प्रयोजन

नाट्यशास्त्र में अनेकों प्रकार के पात्रों का विविध विवेचन विस्तार से किया गया है। इतने अधिक पात्रों का प्रयोग केवल नाटक में ही होता है। अस्तु यह समस्त विवेचन नाटक की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। इस भाँति दशरूपकों में नाटक की प्रधानता स्पष्ट होती है। उसके प्रधान होने के कारण ही नाट्यशास्त्र में उससे सम्बद्ध पात्रों का इतने विस्तार से वर्णन हुआ है। नाटकों में भी यहाँ शृङ्गारिक नाटक को अधिक प्रधानता दी गई प्रतीत होती

है। कारण कि यहाँ वर्णित विस्तृत नायिका-भेद शृङ्गारिक नाटक से ही सम्बन्धित है।

नाट्यशास्त्र में विभिन्न पात्रों के स्वभाव, गुण, विशेषताओं तथा व्यवहारों आदि के विवेचन का प्रयोजन नाट्यकार का मार्ग दर्शन करना प्रतीत होता है। क्योंकि यह समस्त विवेचन नाट्य-प्रयोग की अपेक्षा नाट्य-रचना से ही अधिक सम्बन्धित है। यहाँ से पात्रों की विसिष्टताओं आदि का परिचय प्राप्त करके कोई भी नाटककार अपने नाटक में प्रयुक्त पात्रों का चरित्र-चित्रण सरलता से कर सकता है।

कुछ लोग नाट्यशास्त्र में वर्णित पात्रों के चरित्र-चित्रण की एक बँधी-बँधाई परिपाटी को देखकर कहते हैं, कि इसके अनुसार पात्रों का चरित्र-चित्रण करने पर तो किसी भी नाटक के पात्र केवल एक विसिष्ट प्रकार अथवा 'टाइप' मात्र बनकर ही रह जायेंगे, तथा उनकी वैयक्तिक विशेषताएँ तो उभर ही न पावेंगी। इस कथन में सत्य अवश्य है, परन्तु नाट्यशास्त्र की चरित्र-चित्रण की यह विधि भारत के कर्म-सिद्धान्त से प्रभावित प्रतीत होती है। इसके अनुसार व्यक्ति नहीं, बरन् कर्म ही प्रधान माना जाता है। अपने पूर्व कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति जगत में सुख-दुःखादि प्राप्त करता है। कर्म ही उसे नचाता है। अस्तु जब व्यक्ति स्वयं कर्म के अधीन है, तो उसका स्वतंत्र वैयक्तिक विकास कैसा? इसके अतिरिक्त इस प्रकार के चरित्र-चित्रण की परिपाटी के पीछे नाट्यशास्त्र की आदर्शवादी भावना भी हो सकती है।

पात्रों का भूमिकाएँ प्रदान करना

नाट्यशास्त्र का पैंतीसवाँ अध्याय भी पात्रों से ही सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत सूत्रधार आदि कतिपय अवशिष्ट पात्रों के विवेचन के साथ ही विभिन्न भूमिकाओं का अभिनय कर सकने के उपयुक्त पात्रों के चयन करने का विवेचन किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय में उल्लिखित अधिकांश विषय नाट्य-प्रयोग से ही सम्बन्धित प्रतीत होता है।

पात्रों की गति, वाणी, प्रकृति, तथा सामर्थ्य की परीक्षा करके ही उसे उपयुक्त भूमिका दी जानी चाहिए। भूमिका देने के पूर्व ही पात्र की रक्षान

तथा गुणों को जान लेना चाहिए। उदाहरण के लिये देवता की भूमिका ऐसे व्यक्ति को दी जानी चाहिए, जो वयस्क, पूर्णाङ्ग, सुरूप, उत्साही, प्रियभाषी हो, तथा जो न अधिक मोटा, न अधिक दुबला और न अधिक लम्बा ही हों। दैत्य, दानव तथा राक्षस की भूमिका ऐसे व्यक्ति को दी जानी चाहिए, जो मोटा बड़े शरीर वाला, कड़कीली आवाज वाला, तथा, भयंकर आँखों वाला हो। राजा तथा राजकुमार की भूमिका ऐसे व्यक्ति को दी जानी चाहिए, जो सर्वाङ्ग-सुन्दर लम्बा, श्रेष्ठ गति वाला, सद्ब्यवहार-युक्त तथा चतुर हो। सेनापति तथा सचिव की भूमिका ऐसे व्यक्तियों को दी जानी चाहिए, जो सुगठित शरीर वाले, स्पष्ट भाषी, वीरतायुक्त, तर्कज्ञानी दक्ष तथा न बहुत लम्बे न बहुत मोटे हों। कंचुकीय तथा श्रोत्रिय की भूमिका ऐसे पात्रों को दी जानी चाहिए, जो भूरी आँखों तथा लम्बी नाक वाले एवं लम्बे अथवा छोटे हों। इसी प्रकार अन्य भूमिकाओं के अभिनय के हेतु भी पात्रों का चयन उनकी अवस्था शरीर तथा योग्यता आदि को देखकर किया जाना चाहिए।

स्वाभाविक रूप से दुर्बल व्यक्ति को दुःखी अथवा रुग्ण व्यक्ति की भूमिका प्रदान की जाना चाहिए। इसी भाँति मोटे व्यक्ति को स्वस्थ व्यक्ति की भूमिका प्रदान की जाना चाहिए।

यदि ऊपर निर्धारित योग्यताओं वाले पात्र उपलब्ध न हो सकते हों, तो सूत्रधार को चाहिए, कि वह अपनी रुचि के अनुसार पात्रों का चयन कर ले। कम योग्यता वाले पात्र भी कुशल सूत्रधार के सम्पर्क में आने पर सभी भावों का अभिनय करने में समर्थ हो जाते हैं। असाधारण अंगों वाले अर्थात् अनेक सिरों एवं बाहुओं वाले पात्रों तथा पशुओं आदि की भूमिका के हेतु मिट्टी, लकड़ी अथवा चमड़े की आकृतियाँ बनवा लेनी चाहिए।

बिना समुचित अंग रचना किये किसी भी पात्र को अपने स्वाभाविक रूप में मञ्च में नहीं प्रविष्ट होना चाहिए। अभिनेता को यही समझकर अभिनय करना चाहिये, कि मानो वह अनुकार्य के शरीर में प्रविष्ट कर गया हो।

विविध अलुकृतियाँ

मानवीय पात्रों द्वारा की जाने वाली अनुकृतियाँ नाट्यशास्त्र में अनुरूप

विरूप तथा रूपानुसारिणी इन तीन प्रकारों की मानी गई हैं। जब किसी स्त्री अनुकार्य की अनुकृति स्त्री पात्र द्वारा, तथा पुरुष की पुरुष पात्र द्वारा की जाय, तथा उनकी वय भी अनुकार्य के समान हो, तो उस अनुकृति को अनुरूप कहा जाता है। जब कोई बालक बृद्ध की एवं बृद्ध बालक की अनुकृति करता है, तो इसे विरूप अनुकृति कहा जाता है। यदि कोई पुरुष स्त्री को एवं स्त्री पुरुष की सफल अनुकृति करती है तो उसे रूपानुसारिणी कहा जाता है।

संकोच रहित एवं वीरता तथा शक्ति से युक्त पुरुषपात्र पाठ्य के हेतु उपयुक्त होता है, तथा स्त्री गीत गाने के हेतु। इस प्रसंग में इसका कारण बताते हुए नाट्यशास्त्र कहता है कि स्त्री के स्वर में स्वाभाविक माधुर्य होता है, तथा मानव के स्वर में ओज। देवाल्यों तथा राजमहलों आदि में होने वाले नाट्य-प्रयोगों में स्त्रियों द्वारा पुरुषों का भी अभिनय किया जाने का विधान है। अन्यत्र भी स्त्री पात्रों द्वारा स्त्रियों देवताओं, तथा सुकुमार प्रकृति के मनुष्यों का अभिनय किया जा सकता है। सूत्रधारों को चाहिए कि वे स्त्रियों को अभिनय-सम्बन्धी शास्त्रीय शिक्षा तों दें, परन्तु स्त्रीत्व से सम्बन्धित भूमिका की नहीं। पुरुष पात्रों को तो सूत्रधार हर प्रकार की शिक्षा दे सकता है।

जब किसी नाट्य के पात्रों की स्वितियाँ, व्यवहार एवं शरीर अनुकार्य चरित्रों के अनुरूप होता है, तो इसे नाटक का भूषण माना जाता है। नर्तकियों तथा गायिकाओं द्वारा थकान का अनुभव किये बिना ही अपना कार्य सम्पन्न कर लेना भी नाट्य की सफलता का बड़ा कारण माना जाता है।^{१०} यदि प्रेमानुभूति वाली कोई योग्य स्त्री मंच पर प्रणय का अभिनय करती है, तो वह अत्यधिक सफलता प्राप्त करती है। इसलिए नाट्यशास्त्र कहता है, कि योग्य स्त्री पात्र का चयन कुशलता पूर्वक किया जाना चाहिए। इस भाँति नाट्यशास्त्र अभिनय-हेतु स्त्री के महत्व का प्रतिपादन करता है।

अनुकृति के प्रसंग में नाट्यशास्त्र में एक प्रश्न उठाया गया है कि स्वल्प वस्त्राभूषणों वाला पात्र राजा जैसे महान व्यक्ति के गुणों की अनुकृति किस प्रकार कर सकता है? नाट्यशास्त्र के अन्दर इसके उत्तर में कहा गया है कि जब कोई कुशल अभिनेता अंगरचना तथा आभूषणादि से आभूषित हो जाता है तथा धीर गंभीर अभिनय करता, है तो वह राजा ही प्रतीत होने लगता है।

सूत्रधार को शिक्षा एवं अंतर्दृष्टि से युक्त पात्र को राजा की अनुकृति करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती ।

चरित्रों का नामकरण :-

नाट्यशास्त्र के उन्नीसवें अध्याय में नाट्यकारों द्वारा चरित्रों के नामकरण किये जाने के सम्बन्ध में भी विवेचन किया गया है, जो प्रायः अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता । नाट्यशास्त्र का यह विवेचन नाट्यरचना से ही सम्बन्धित है । ऐतिहासिक तथा प्रसिद्ध व्यक्तियों के नामों के अतिरिक्त अन्य कल्पित चरित्रों का नामकरण स्वयं नाट्यकार ही करता है । इस प्रसंग में निर्देश देते हुए नाट्यशास्त्र कहता है कि चरित्रों के नाम उनके अनुरूप तथा अन्वय होने चाहिए । ब्राह्मण तथा क्षत्रिय चरित्रों के नाम उनके गोत्र तथा कर्म के अनुसार अथवा क्रमशः शर्मन्त एवं वर्मान्त रखने चाहिए । इसी भांति वैश्यों के नाम दत्तान्त होने चाहिए, तथा वीरों के शौर्य-सूचक । रानियों के नाम विजयार्थक होने चाहिए, तथा वैश्याओं के दत्ता मित्रा एवं सेना के अन्त होने वाले । सन्देश-वाहिकाओं को किसी पुष्प का नाम देना चाहिए, तथा चेटों को मंगलार्थ नाम । उत्तम चरित्रों को ऐसा गम्भीरार्थक नाम देना चाहिए, जिससे उनके नाम एवं कर्म में सामन्वय हो सके । अन्य पात्रों के नाम भी उनकी जाति अथवा चेष्टा (कर्म) आदि के अनुसार रखना चाहिए ।

प्रतीत होता है, कि नामकरण की यह परिपाटी संस्कृत के नाटकों में बहुत कम अपनायी गई है । भास के चारुदत्त नामक नाटक के वैश्य चरित्र चारुदत्त तथा वैश्य चरित्र, वसन्तसेना तथा भास के अविमारक एवं स्वप्नवास-दत्तम् के सन्देश वाहिकाओं के नाम क्रमशः नलिनिका एवं पद्मिनिका आदि कुछ चरित्रों के नाम ही उक्त विधि के अनुसार प्राप्त होते हैं । भले ही संस्कृत नाटकों में यह परिपाटी पूर्णतः न अपनाई गई हो, परन्तु नाट्य शास्त्र द्वारा वर्णित चरित्रों के कर्म आदि के अनुरूप नाम रखने के सिद्धान्त का औचित्य तो अद्यावधि अक्षुण्ण है ।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के अन्दर पात्रों, उनकी योग्यताओं तथा भूमिका वितरण आदि के विषय में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है । यद्यपि उक्त

विषयों के ऊपर नाट्यशास्त्र ने अनेकों विधान किये हैं, तथापि एक कठोर रुढ़िवादी उपदेशक की भाँति वह उन्हीं के अक्षरशः पालन पर ही जोर नहीं देता । नाट्यशास्त्रकार की व्यवहारिकता का परिचय उसके इस कथन से ही मिलता है कि यदि यहाँ गिनाई गई योग्यताओं वाले पात्र न भी मिलें, तो जैसे भी पात्र उपलब्ध हो सकें, उन्हीं को शिक्षित करके कार्य चलाना चाहिए ।



अष्टम परिच्छेद

रस तथा भाव

नाट्य के एकादश अंगों के विवरण में रस तथा भाव का कथन सर्व प्रथम किया गया है। इससे स्पष्ट है कि 'नाट्यशास्त्र' नाट्य के अन्दर रस को प्रमुख स्थान देता है। यहाँ छठवें तथा सातवें अध्याय में रसों तथा भावों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

छठवें अध्याय में सर्व प्रथम शृंगार, हास्य, करुण, रोद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत इन आठ नाट्य-रसों के नाम गिनाए गये हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय ये आठ स्थायी भाव कहे गये हैं। इसके उपरान्त निर्वेद, न्तानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, ओत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्य, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क ये तैंतीस व्यभिचारी भाव गिनाये गये हैं। इनके अनन्तर स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरसाद, वेपथु, वैवर्ण्य, अथु तथा प्रलय ये आठ सात्त्विक भाव कहे गये हैं।

रस-निष्पत्ति

नाट्य में रस की प्रमुखता के विषय में 'नाट्यशास्त्र' कहता है—

नहि रसाहते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।

अर्थात् बिना रस के ज्ञान के नाट्य के विभावादि अर्थों का समझना कठिन है। ऐसा कहकर यहाँ रस-निष्पत्ति का विवेचन प्रारम्भ किया गया है। यहीं यह प्रसिद्ध सूत्र दिया गया है

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः ।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यह इस सूत्र का शाब्दिक अनुवाद मात्र है। आगे 'नाट्यशास्त्र' में स्वयं ही इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

नाट्यशास्त्र का स्पष्टीकरण

रस की निष्पत्ति की बात कुछ कठिन होने के कारण 'नाट्यशास्त्र' में दृष्टान्त देकर उसे स्वयमेव समझाने का प्रयास किया गया है। इस प्रसंग में कहा गया है कि जैसे नाना प्रकार के व्यञ्जनों एवं ओषधि आदि के संयोग से खाद्य पदार्थों में रसादि की उत्पत्ति होती है, वैसे ही विभावादि भावों के संयोग से स्थायी भाव में रस की निष्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है। इसके आगे 'नाट्यशास्त्र' में रस-सम्बन्धी कुछ विवेचन प्रश्नोत्तर शैली में भी मिलता है। उदाहरणार्थ प्रश्न होता है कि रस को रस क्यों कहा जाता है ? उत्तर है कि रस्यमान अर्थात् आस्वाद्यमान होने के कारण ही इसको रस कहा जाता है। प्रश्न है कि इसका आस्वादन कैसे किया जाता है ? उत्तर है कि जैसे नाना प्रकार के सुन्दर व्यञ्जनों से युक्त भोजन को खाकर लोग रसों का आस्वादन करते, और आनन्द प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार विभावादि को तथा अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का भी सहृदय जन आस्वादन करते और आनन्द प्राप्त करते हैं। नाट्य से प्राप्त होने के कारण ही इसे नाट्य-रस कहा जाता है। इस प्रसंग में 'नाट्यशास्त्र' में एक प्रमुख प्रश्न उपस्थित किया गया है। वह अधोलिखित है—

कि रसेभ्यो भावानामभिव्यक्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति ?

अर्थात् क्या रसों से भावों की उत्पत्ति होती है अथवा भावों से रसों की ? इसका उत्तर देते हुए 'नाट्यशास्त्र' कहता है कि कुछ लोग न तो रसों से भावों की और न भावों से रसों की ही उत्पत्ति मानते हैं, अपितु परस्पर के सम्बन्ध से ही इन दोनों की उत्पत्ति मानते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। 'नाट्यशास्त्र' कहता है कि

दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिव्यक्तिः, न तु रसेभ्यो भावानामिति ।

अर्थात् भावों से तो रस की उत्पत्ति देखी जाती है, परन्तु रसों से भावों

की नहीं। इसके प्रमाण में 'नाट्यशास्त्र' एक अनुबन्ध स्लोक प्रस्तुत करता है जो अधोलिखित है

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।

परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥६-३६

अर्थात् न तो रस भाव से रहित होता है, और न भाव रस से, अपितु अभिनय में एक दूसरे के सहारे ही इनकी सिद्धि होती है। इस श्लोक का द्वितीय चरण 'नाट्यशास्त्र' के पूर्व स्थापित सिद्धान्त का विरोधी-सा प्रतीत होता है, परन्तु बात वस्तुतः वैसी नहीं है। 'न भावो रसवर्जितः' का तात्पर्य यह नहीं है कि रस से भावों की उत्पत्ति होती है, वरन् इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि नाट्य में रस के सम्बन्ध से ही विभावादि को विभावादि कहा जाता है। 'अभिनव-भारती' में इसका विस्तृत स्पष्टीकरण दिया गया है, जिसे वहीं देखा जाना चाहिए।

रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया

'नाट्यशास्त्र' में आगे कहा गया है कि ८ स्थायी ३३ व्यभिचारी तथा ८ सात्विक ये कुल मिलाकर उनचास भाव हैं जो काव्य या नाट्य-रस के कारण-भूत हैं। 'नाट्यशास्त्र' कहता है कि :—

एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते ।

अर्थात् सामान्य गुण के योग से इन्हीं भावों से रसों की निष्पत्ति होती है। यह सामान्य गुण योग का तात्पर्य उनके साधारणीकृत रूप से ही प्रतीत होता है। अर्थात् वे भाव किसी व्यक्तिगत चरित्र या पात्र से सम्बन्धित न रहकर जब सर्वमान्य से सम्बन्धित हो जाते हैं, तब रस की निष्पत्ति होती है और सामाजिक उसका आस्वाद करते हैं।

यहाँ पर 'नाट्यशास्त्र' एक शंका उठाता है कि यदि काव्यायं पर आश्रित विभावानुभावों से व्यंजित होने वाले उन्चास भावों से ही सामान्य गुण के योग से रस-निष्पत्ति होती है, तो फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं। इसका उत्तर देते हुए यहाँ कहा गया है कि

जिस प्रकार किसी कार्य की सिद्धि राजा तथा उसके अनेक नौकर-चाकर मिल कर करते हैं, तो वह सिद्धि राजा की ही सिद्धि कही जाती है, उसी प्रकार प्रधान होने के कारण स्थायी भावों को ही रसत्व को प्राप्त करने वाला कहा जाता है।

‘नाट्यशास्त्र’ के रस-सूत्र की व्याख्या उत्तरवर्ती आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से विस्तार पूर्वक की है। अभिनवगुप्त की अभिनव-भारती तथा मम्मट के काव्यप्रकाश आदि में इसकी विभिन्न व्याख्याएँ उद्धृत की गई हैं। अभिनव गुप्त ने इस प्रसंग में भट्ट लोल्लट, शंकुक, तथा भट्टनायक की व्याख्याओं का उल्लेख तथा खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है। अभिनव के मत का ही अनुसरण मम्मट ने किया गया है। उक्त आचार्यों के मध्य उक्त सूत्र में आए ‘संयोग’ तथा ‘निष्पत्ति’ प्रायः इन दो शब्दों के ऊपर ही विवाद दिखाई देता है। नीचे संक्षेप में इन मतों का विवरण दिया जा रहा है।

१. भट्ट लोल्लट

इनके रस सम्बन्धी सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि ये निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति मानते हैं। अर्थात् इसके अनुसार विभावानुभावादि के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त ये संयोग शब्द के तीन अर्थ करते हैं। इनके अनुसार पहिले तो ललना आदि विभावों के द्वारा रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं। फिर कटाक्ष आदि अनुभावों के द्वारा वे भाव प्रतीति के योग्य बनाए जाते हैं। तदनन्तर वे निर्वेदादि व्यभिचारियों द्वारा परिपुष्ट किए जाते हैं। इस प्रकार इनके मत में स्थायी भाव और विभावों के संयोग का तात्पर्य उनका उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध, स्थायी भाव और अनुभावों के संयोग का तात्पर्य उनका मध्यममक सम्बन्ध, तथा स्थायी भाव और व्यभिचारियों के संयोग का तात्पर्य उनका पोष्य-पोषक सम्बन्ध है। लोल्लट कहते हैं कि, विभावों द्वारा उत्पन्न किया गया, अनुभावों द्वारा प्रतीति योग्य बनाया गया तथा संचारियों द्वारा पुष्ट किया गया स्थायी भाव ही रस है, जो प्रमुख रूप से अनुकार्य अर्थात् राम आदि चरित्रों में रहता है, तथा उनका अनुकरण करने के कारण गौण रूप से पात्रों में भी रहता है। इस प्रकार लोल्लट के अनुसार निष्पत्ति के भी तीन ही अर्थ प्रतीत होते हैं, जो क्रमशः उत्पत्ति, प्रतीति तथा पुष्टि हैं।

आचार्य सोल्लट की यह व्याख्या उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त से प्रभावित कही जाती है। वेदान्त में अध्यास का सिद्धान्त माना जाता है। इसके अनुसार सर्प के न होने पर भी रस्ती आदि को देखकर भ्रमवश सर्प की प्रतीति होती है, तथा भयादि भी उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी वस्तुतः रामादि की रति यद्यपि विद्यमान नहीं रहती तथापि पात्रों द्वारा उसका अनुकरण किया जाने के कारण उसकी उत्पत्ति मान ली जाती है। सोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ा दोष यह प्रतीत होता है कि इन्होंने मुख्य रूप से अनुकार्य चरित्रों में और गौण रूप से पात्रों में ही रस की उत्पत्ति आदि मानी है। इससे यह पता नहीं चलता कि सामाजिकों को रस की अनुभूति किस प्रकार होती है। दूसरे रामादि अनुकार्य चरित्र तो अब उपस्थित ही नहीं हैं, फिर उनमें रस की उत्पत्ति कैसे ?

२. शङ्कुक

शङ्कुक ने इस सूत्र की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। इनके रस-सिद्धान्त को अनुमितिवाद नाम से जाना जाता है। कारण कि ये रस को अनुमेय मानकर निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति करते हैं। इनके अनुसार प्रेक्षक चित्र-तुरग-न्याय के अनुसार पात्रों में राम आदि चरित्रों का अनुमान कर लेता है। अर्थात् जैसे चित्र में बना घोड़ा असली न होने पर भी घोड़ा ही माना जाता है, वैसे ही राम की जैसी सज्जा आदि के कारण पात्रों को राम आदि मान लिया जाता है। इसके अतिरिक्त पात्रों द्वारा प्रकट किये जाने वाले कृत्रिम अनुभावों को देखकर प्रेक्षक उनके अन्दर स्थित रस का अनुमान कर लेता है, और उसका आस्वादन करता है।

शङ्कुक का यह सिद्धान्त न्यायानुसारी कहा जाता है। कारण इसमें अनुमान को प्रमुखता दी गई है, जो न्याय में सर्वाधिक प्रचलित है। शङ्कुक ने निष्पत्ति का अर्थ तो अनुमिति माना ही है, साथ ही वे संयोग का अर्थ भी गम्य-गमक सम्बन्ध ही मानते हैं। इन्होंने रस के अनुमान को एक विलक्षण प्रकार का अनुमान माना है। इसके अनुसार अनुमित रस वस्तुतः न तो प्रेक्षक में रहता है, और न पात्र में ही, परन्तु अपनी वासना के कारण प्रेक्षक उसका अनुमान कर लेता है।

इस प्रकार शंकु ने प्रेक्षकों के साथ रस का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास अवश्य किया है, परन्तु वे उसमें पूर्णतः सफल नहीं हो पाये। रस की साक्षात् अनुभूति तथा अनुमान ये दोनों ही भिन्न बातें हैं। अनुमान के द्वारा किसी भी वस्तु की साक्षात्कारात्मक अनुभूति असम्भव ही होती है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्रयुक्त रसानुमिति के लिए रूप पात्रों के कृत्रिम अनुभावादि भी वास्तविक नहीं हैं। अस्तु कृत्रिम लिए पर आधारित अनुमान भी कृत्रिम ही होगा।

३. भट्ट नायक

इस रस-सूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं। इन्होंने प्रेक्षक को होने वाली रसानुभूति की सिद्धि के लिए एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। इसको लोग भुक्तिवाद कहते हैं। इन्होंने लोल्लट तथा शंकु दोनों के ही मतों का खण्डन किया है। इनके अनुसार न तो तटस्थ रहने वाले राम आदि चरित्रों तथा पात्रों में रस की उत्पत्ति माननी उचित है, और न रस को परोक्ष ज्ञान-रूप अनुमित ही माना जा सकता है। साथ ही इनके अनुसार रस की अभिव्यक्ति भी नहीं मानी जा सकती। कारण कि अभिव्यक्ति तो पूर्व से विद्यमान वस्तु की ही होती है। रस तो केवल अनुभव-काल में ही रहता है, उससे पूर्व या पश्चात् नहीं। अस्तु इनके अनुसार रस की अभिव्यक्ति मानना भी अनुचित ही है।

इस प्रकार रस की उत्पत्ति अनुमिति तथा अभिव्यक्ति का खण्डन करके भट्टनायक सामाजिकों द्वारा रस के भोग किये जाने की बात कहते हैं। इसी से इनके मत को भुक्तिवाद कहा जाता है। अपने मत की सिद्धि के लिये उन्होंने भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापार माने हैं। उनके अनुसार काव्य (या नाट्य) में अभिधा द्वारा उपस्थित होने वाला अर्थ केवल नायक-नायिका आदि चरित्रों से ही सम्बन्धित होता है। भावकत्व व्यापार अर्थ का सम्बन्ध नायक-नायिका से हटाकर उसका साधारणीकरण कर देता अर्थात् सर्व साधारण के उपभोग-योग्य बना देता है। इसके अनन्तर भोजकत्व नामक व्यापार प्रेक्षकों को रस का साक्षात्कारात्मक भोग कराता है। इस प्रकार इस मत के अनुसार संयोग का अर्थ भोज्य-भोजक सम्बन्ध तथा निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति अर्थात् उपभोग माना जाता है।

भट्टनायक ने यद्यपि रस का सम्बन्ध सामाजिकों के साथ जोड़ने का अन्धा प्रयास किया है, परन्तु विद्वानों ने उनके द्वारा प्रस्तुत दो नये व्यापारों की प्रामाणिकता में संदेह व्यक्त किया है। साथ ही इस मत से यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता कि जिस स्थायीभाव का भोग किया जाता है, वह चरित्र, पात्र अथवा प्रेक्षक में किसमें रहता है।

४. अभिनव गुप्त

अभिनव गुप्त ने अपनी अभिनव भारती व्याख्या में उक्त तीनों मतों का खण्डन करके अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की है। उन्होंने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन तथा अपने उपाध्याय (भट्टतोत) के अनुसार किया है। यहाँ उन्होंने सिद्ध किया है कि रसानुभूति सहृदय प्रेक्षकों को ही होती है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि सहृदयों के अन्दर वासना या संस्कार रूप में विद्यमान स्थायी भाव ही रसानुभूति का कारण होता है। वह साधारणीकृत विभावादिकों की उपस्थिति से उद्बुद्ध या अभिव्यक्त हो जाता है। तथा सहृदयों की तन्मयता के कारण परमानन्द रूप में अनुभूत होता है।

इससे स्पष्ट है कि अभिनव भावकत्व तथा भोजकत्व आदि व्यापार न मानकर साधारणीकरण को ही एक नया व्यापार मानते हैं। यह साधारणीकरण विभावादि का सम्बन्ध नायक-नायिकादि से हटाकर उन्हें सर्वसाधारण से सम्बन्धित कर देता है। साधारणीकरण की यह कल्पना भोजकत्व आदि से अधिक व्यावहारिक तथा उपयुक्त प्रतीत होती है और नाट्यशास्त्र-सम्मत भी है।

अभिनव के सिद्धान्त से ज्ञात होता है कि वे निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति मानते हैं। जहाँ तक संयोग पद का सम्बन्ध है, उसके विषय में अभिनव विभावादि तीनों को सम्मिलित रूप से रस की अभिव्यक्ति में कारण तो मानते हैं परन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति उनमें और रस में कारण, कार्य आदि सम्बन्ध नहीं मानते। इस प्रसंग में उन्होंने रस को लौकिक नियमों से परे अलौकिक कहा है। यहाँ अभिनव ने रस के अलौकिकत्व की सिद्धि अनेक प्रकार से की है।

इस प्रकार रस निष्पत्ति सूत्र की उक्त चारों व्याख्याओं में से अभिनव की व्याख्या ही अधिक मान्य समझी जाती है, जो उचित ही है, क्योंकि यही व्याख्या नाट्यशास्त्र के अधिक निकट प्रतीत होती है।

नाट्यरस की अनुभूति के विषय में विचार करते हुए अभिनव कहते हैं कि ये लोग स्वभाव से ही निर्मल शीशे के समान हृदय वाले होते हैं। वे रूपक देखने या सुनने पर साधारण पुरुषों के समान क्रोध, मोह, अभिलाष आदि के वशीभूत नहीं होते, अपितु अलौकिक रस का आनन्द प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो असहृदय होते हैं वे रूपक पढ़ने-सुनने पर तो नहीं, वरन् उसके दृश्य देखने और गीत आदि सुनने पर उनके भी क्रोध, मोहादि नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार रस की अनुभूति लोकजन्य न होकर नाट्यजन्य ही होती है। यह अनुभूति काव्य के पाठ अथवा श्रवण से भी होगी देखी जाती है। इससे यही समझना चाहिए कि नाट्यशास्त्रकार ने काव्य को सन्धि आदि से रहित नाट्य ही माना है।

अभिनव पात्र में रस की अनुभूति नहीं मानते। वे कहते हैं जैसे मद्य-पात्र मद्य का आस्वादन स्वयं न करके दूसरों को उसका आस्वादन कराने में कारण बनता है, उसी प्रकार पात्र भी स्वयं रसास्वादन न करके सहृदय सामाजिक को ही रसास्वादन कराने में कारण बनता है।

रस की अनुभूति सहृदय कैसे करता है, इसके-समाधान हेतु अभिनव ने साधारणीकरण का सिद्धान्त माना है। संक्षेप में इसका सारांश यही है कि रूपक देखने पर चरित्र, देश तथा काल आदि से सम्बन्धित सभी विशेषताएँ नष्ट हो जाती हैं। अर्थात् राम का अभिनय करने वाला अभिनेता न तो दशरथ-पुत्र राम ही प्रतीत होता है और न अभिनेता ही। इसी प्रकार न तो यह प्रतीत होता है कि प्रेक्षक वेता युग में अयोध्या में विद्यमान है, और न यही कि वह वर्तमान काल में अपने नगर में ही है। इस भाँति पात्र, देश, कालादि की सभी विशेषताएँ नष्ट होने पर विभावानुभावों के दर्शन से प्रेक्षक को ऐसे आनन्द की अनुभूति होती है, जो सभी सहृदयों का भोग्य होता है। राम और सीता की रति के अनुभावादि को देखकर प्रेक्षक को यह नहीं प्रतीत होता कि यह रति राम और सीता की ही है, अथवा उनकी नहीं है। उसे यह भी नहीं प्रतीत होता है कि यह रति उसी की है अथवा किसी दूसरे की है। रति को इस प्रकार का निविशेष रूप साधारणीकरण द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी साधारणीकृत रति का सहृदय जन आनन्द लेते हैं, जो अलौकिक हुआ करता है। इसी प्रकार उन्हें रसानुभूति होती है।

रस विशेष की उत्पत्ति

नाट्यशास्त्र में शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को उत्पादक अर्थात् मूल रस माना गया है। शेष चार हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक को क्रमशः उक्त रसों से उत्पन्न होने वाला कहा गया है। यहाँ इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता कि उत्पादक अर्थात् मूल एवं उत्पन्न होने वाले रस चार ही चार क्यों माने गये हैं। भले ही नाट्यशास्त्रकार के हृदय में इसका मनोवैज्ञानिक समाधान रहा हो, पर यहाँ तो सीधे-साधे यही कहा गया है कि—

शृङ्गारादि भवेद्भास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।

वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः वीभत्साच्च भयानकः ॥ ६-३६

अर्थात् शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर अद्भुत तथा वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। इस प्रसंग में अभिनव ने अपनी व्याख्या में यह अवश्य कहा है कि चारो उत्पादक रस यथायोग्य पुरुषार्थ—चतुष्टय अर्थात् धर्मार्थ काम-मोक्ष से व्याप्त रहते हैं। इसी प्रकार अभिनव ने यह भी लिखा है कि भट्टलोत्पल ने जो यह कहा है कि 'रस तो अनन्त हो सकते हैं, परन्तु नटों में प्रसिद्ध होने के कारण नाट्य में आठ ही रस मानना चाहिए', यह अभिमान-वश बिना विचारे कह दिया है। अभिनव ने यहाँ यह नहीं लिखा कि लोत्पल का यह कथन अविचारपूर्ण है किस प्रकार ?

इसके आगे 'नाट्यशास्त्र' में चार उत्पादक रसों से अन्य चार रसों की उत्पत्ति इस प्रकार से बतायी है—

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति संज्ञितः ।

रौद्रस्यापि च यत्कर्म स ज्ञेयो करुणो रसः ॥

वीरस्यापि च यत्कर्म सौद्भुतः परिकीर्तितः ।

वीभत्सदर्शनं यच्च भवेत् स तु भयानकः ॥ ६-४०, ४१

अर्थात् जो शृङ्गार की अनुकृति है, वही हास्य रस कहा जाता है, जो रौद्र का कर्म है वही करुण रस है तथा वीर का कर्म अद्भुत रस। इसके अतिरिक्त वीभत्स का दर्शन ही भयानक रस कहा जाता है।

इस प्रसंग में व्याख्याकार अभिनव ने चार उत्पादक रसों में क्रमशः चार प्रकार का उत्पत्ति-हेतुत्व बताया है। इनमें प्रथम प्रकार का उत्पत्ति-हेतुत्व भाभास वधवा अनुकृति से सम्बन्धित कहा गया है। यह शृङ्गार में रहता है। उदाहरणार्थ एक वृद्ध एवं विकलांग नायक तथा षोडशी नायिका का शृङ्गार तदाभास मात्र बनकर रह जाता है, और उससे रति न उत्पन्न होकर हास ही उत्पन्न होता है। इसी से यहाँ शृङ्गार को हास्य का उत्पादक कहा गया है। द्वितीय प्रकार का उत्पत्ति-हेतुत्व फल से सम्बन्धित कहा गया है। इसकी स्थिति रौद्र में देखी जा सकती है। रौद्र रस का फल या परिणाम किसी का वध या बन्धन आदि होता है। ये वध तथा बन्धनादि पीड़ित पक्ष के लिए करुण-जनक बन जाते हैं। इसी से रौद्र से करुण की उत्पत्ति माननी चाहिए। तृतीय प्रकार का उत्पत्ति-हेतुत्व भी यद्यपि फल से ही सम्बन्धित है, पर यह रौद्रवाले उत्पत्ति-हेतुत्व से भिन्न है। इसमें एक रस दूसरे रस को ही फल मानकर प्रवृत्त होता है। इसका उदाहरण वीर रस है, जो अपने उत्साह से जगत को विस्मित करने के ही लिए प्रयुक्त होता है, और फल रूप में अद्भुत रस को जन्म देता है। इसके विपरीत रौद्र किसी अन्य रस को फल न मानकर शत्रुवधादि को ही फल मानता है। यही इन दोनों में अन्तर है। चतुर्थ उत्पत्ति-हेतुत्व समान-विभावत्व से सम्बन्धित है। इसकी स्थिति वीभत्स में देखी जा सकती है। वीभत्स रस के रुधिर-प्रवाहादि विभाव, मरण, मूर्च्छा आदि व्यभिचारी तथा मुख सिकोड़ना आदि अनुभाव भयानक में भी होते हैं। अर्थात् अंगों का कटना तथा खून का बहना आदि देखकर एक पक्ष में भय की भी उत्पत्ति होती है। इसी में वीभत्स रस को भयानक का उत्पादक कहा गया है।

रसों के वर्ण और देवता

‘नाट्यशास्त्र’ में शृङ्गार रस का वर्ण श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोतवर्ण, रौद्र का लाल, वीर का गौर, भयानक का कुष्ण, वीभत्स का नील तथा अद्भुत का पीतवर्ण माना गया है। अभिनव के अनुसार यह वर्ण-कथन पूजा आदि के समय ध्यान करने की दृष्टि से किया गया है। साथ ही अन्य व्याख्याकार इस वर्ण-कथन का तात्पर्य यह मानते हैं कि विभिन्न रसों से सम्बन्धित अभिनयों में पात्रों की अंग रचना उक्त वर्णों के अनुसार की जाना चाहिए।

‘नाट्यशास्त्र’ में विष्णु को शृङ्गार का, प्रमथ को हास्य का, रुद्र को रौद्र का, यम को करुण का, महाकाल को वीभत्स का, काल को भयानक का, महेन्द्र को वीर का तथा ब्रह्मा को अद्भुत रस का देवता माना गया है । अभिनव कहते हैं कि देवताओं का निरूपण इसीलिए किया गया है कि विभिन्न रसों की सिद्धि के लिये उनसे सम्बन्धित देवता की उपासना की जा सके । उक्त देवताओं का स्पष्टीकरण करते हुए अभिनव कहते हैं कि शृङ्गार के देवता विष्णु का तात्पर्य कामदेव से है, तथा हास्य देवता प्रमथ का शीड़ा करने वाले शिव-गण से । दोनों लोकों के संहारक होने से ही रुद्र को रौद्र का देवता कहा गया है । रुद्र की प्रेरणा से ही यम प्राणियों के प्राण हरते हैं, अतएव वे करुण के देवता हैं । वीभत्स-देवता महाकाल को महाकाल रूप शिव समझना चाहिए, जो कंकाल तथा श्मशान आदि का सेवन करते हैं । वीभत्स तथा भयानक के विभावादि समान होने के कारण ही भयानक का देवता काल को माना गया है । वीर-देवता महेन्द्र त्रिलोक के अधिपति हैं तथा अद्भुत देवता ब्रह्मा आश्चर्यजनक सृष्टि के निर्माता ।

इसके आगे ‘नाट्यशास्त्र’ में आठों रसों में से प्रत्येक के विभावानुभावादि का विस्तृत विवेचन किया गया है । नीचे उसका विवरण देने का प्रयास किया जा रहा है ।

१. शृङ्गार रस

‘नाट्यशास्त्र’ के अनुसार रति नामक स्थायी भाव से उत्पन्न उज्ज्वल वेष वाले रस को शृङ्गार कहा जाता है उसे परस्परानुरक्त स्त्री पुरुष के भाव वाला तथा उत्तम युव-प्रकृतिक कहा गया है । इसका स्पष्टीकरण अभिनव के अनुसार इस प्रकार है कि सामाजिक में वासना-रूप में विद्यमान परस्परानुरक्त एवं उत्तम युवा प्रकृति वाले स्त्री-पुरुष का रति भाव ही अभिनय के द्वारा जागृत होकर शृङ्गाररसत्व को प्राप्त होता है । शृङ्गार के वेष का तात्पर्य है उसके विभावादि और उज्ज्वल का तात्पर्य है सुन्दर अथवा उत्कृष्ट । इस प्रकार शृङ्गार रस सुन्दर विभावादि वाला माना जाता है । उसके उत्तम युव-प्रकृतिक का तात्पर्य यह है कि परस्परानुरक्त स्त्री तथा पुरुष उत्तम एवं युवा प्रकृति के

होने चाहिए यहाँ उत्तम प्रकृति का तात्पर्य यही है कि परस्परानुरक्त स्त्री-पुरुष ऐसे न होने चाहिए जिनकी अनुरक्ति नीचों के समान क्षणिक हो, वरन् उनका अनुराग उत्तम लोगों के अनुरूप स्थायी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त युव-प्रकृति का तात्पर्य युवावस्था न होकर तरुण-चैतन्य माना जाना चाहिए।

संभोग तथा विप्रलम्भ शृंगार

‘नाट्यशास्त्र’ शृङ्गार की संभोग तथा विप्रलम्भ दो स्थितियाँ मानता है। इनमें से संभोग शृङ्गार की उत्पत्ति ऋतु, मास्य, अनुलेप अस्कार तथा शब्द-स्पर्शादि विभावों से होती है अर्थात् ये सभी उसके उद्दीपन विभाव हैं। नायक तथा नायिका दोनों ही एक दूसरे के प्रति आलम्बन विभाव होते हैं। संभोग शृङ्गार का अभिनय नयन-चातुरी, भ्रू-श्लेष, कटाक्ष, ललित मधुर वाक्य तथा अंग-हारादि रूप अनुभावों के प्रदर्शन से किया जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत आलस्य, उन्नता तथा जुगुप्सा को छोड़कर शेष समस्त संचारी भावों का प्रदर्शन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विप्रलम्भ शृङ्गार का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, व्याधि, मरणादि अनुभावों के प्रदर्शन से किया जाना चाहिए।

विप्रलम्भ शृंगार तथा करुण

इस प्रसंग में ‘नाट्यशास्त्र’ में यह शंका उठाई गई है कि शृङ्गार तो रति से उत्पन्न होता है। फिर इसमें करुण रस के निर्वेदादि भाव कैसे होते हैं? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि शृङ्गार के संभोगमात्र ही नहीं, विप्रलम्भ भी होता है जिसमें करुण सम्बन्धी भाव भी हो सकते हैं, यहाँ पर ‘नाट्यशास्त्र’ ने काम शास्त्र का प्रमाण दिया है, जो कामदशाओं में मरणादि को भी मानता है। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि विप्रलम्भ और करुण के भाव समान होने के कारण इन दोनों में भेद कैसे हो सकेगा? इसके उत्तर में ‘नाट्यशास्त्र’ कहता कहता है कि विप्रलम्भ में तो प्रिय-वियोग रूप दुःख के साथ-साथ सापेक्षता अर्थात् प्रिय-मिलन की आशा बनी रहती है, परन्तु करुण में प्रिय की मृत्यु आदि हो जाने से यह आशा समाप्त हो जाती है। यही इन दोनों में भेद है। इस प्रकार शृङ्गार में प्रायः सभी भाव रह सकते हैं।

२. हास्य रस

‘नाट्यशास्त्र’ में हास्य को ‘शोकस्थायिभावात्मकः’ अर्थात् शोकरूपी स्थायीभाव वाला कहा गया है। इसके विपरीत शृङ्गार को ‘रतिस्थायिभावप्रभवः’ कहा गया था, और आगे करुण को भी ‘शोकस्थायिभावप्रभवः’ कहा गया है। अन्य शेष रस यहाँ तत्तत्-स्थायिभावात्मक ही कहे गये हैं। अस्तु शृङ्गार एवं करुण को स्थायिभावप्रभव तथा शेष रसों को स्थायिभावात्मक कहने में क्या तात्पर्य हो सकता है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए अभिनव कहते हैं कि शृङ्गार एवं करुण के विभावादि असाधारण होते हैं। लोक और नाट्य इन दोनों में इन दोनों का आस्वादन भिन्न प्रकार का होता है। जैसे नाट्य में तो रति व्यापार देखने से आनन्द आता है, परन्तु वही व्यापार नाट्य में तो करुण-व्यापार देखने से शोक होता है, पर उसे हो लोक में देखने से दुःख मात्र उत्पन्न होगा। इसके विपरीत शेष अन्य रसों में लोक तथा नाट्य सम्बन्धी आस्वादन प्रायः एक-सा ही होता है। उदाहरणार्थ विकृतवेष वाले व्यक्ति को देखकर लोक और नाट्य दोनों में हास ही उत्पन्न होता है। अतः इस समानता के कारण हास्यादि छै रसों की स्थायिभावात्मक तथा असमानता के कारण शृङ्गार एवं करुण को स्थायिभाव-प्रभव कहा गया है।

यहाँ हास्य रस को दूसरों के विकृत वेष, विकृत अलंकार, निर्लज्जता लोलुपता, कुहक, असंगत प्रलाप, व्यंग्य दर्शन तथा दोषोदाहरण आदि विभावों से उत्पन्न होने वाला कहा गया है। इनमें से विकृत का स्पष्टीकरण करते हुए अभिनव ने लिखा है कि देश, काल तथा आयु के विपरीत वेशालंकार धारण करना ही विकृत वेष तथा विकृत अलंकार समझा जान चाहिए। अभिनव ने काँस तथा गला आदि छूकर बालकों के हँसाने की विधि को कुहक कहा है, परन्तु इसका उपयोग नाट्य में किस प्रकार होगा, इसे स्पष्ट नहीं किया। व्यंग्य का अर्थ अभिनव नकटापन आदि विकलांगता मानते हैं। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि विकलांग होने मात्र से तो व्यक्ति हास का नहीं, वरन् दया का पात्र होता है, परन्तु यदि वह स्वयं अपनी विकलांगता का प्रदर्शन करता हो, तो अवश्य हास का पात्र बनता है। इसके अतिरिक्त देश-कालादि का ध्यान न रखकर बात करना ही यहाँ असत्-प्रलाप कहा गया है तथा पात्र द्वारा अपनी प्रकृति से भिन्न प्रकार का प्रदर्शन करना ही दोषोदाहरण।

‘नाट्यशास्त्र’ के अनुसार हास्यरस का अभिनय होठ, नाक तथा कपोल के कम्पन, अर्धे खोलने-मूँदने, पसीना निकालने, मुस का रंग बदलने तथा पाश्यों अर्थात् छाती के दोनों भागों के दबाने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए। इसके अन्दर आलस्य, अवहित्वा, तन्म्रा, गिद्रा, स्वप्न, प्रबोध तथा असूया आदि सञ्चारी भावों का होना कहा गया है।

हास्य के भेद

‘नाट्यशास्त्र’ हास्य के आत्मस्थ तथा परस्थ दो भेद मानता है। इसके अनुसार जब स्वयं हँसा जाता है, तब आत्मस्थ हास्य तथा जब दूसरे को हँसाया जाता है, तब परस्थ हास्य होता है। इसकी व्याख्या में अभिनव कहते हैं कि आत्मस्थ और परस्थ ये दोनों हास्य के भेद न होकर हास्य के विभावों के भेद हैं अर्थात् जब व्यक्ति हास्य का आलम्बन स्वयं बनाता है, तब आत्मस्थ हास्य तथा जब आलम्बन कोई दूसरा होता है, तब परस्थ हास्य मानना चाहिए।

‘नाट्यशास्त्र’ स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रों में ही हास्य के प्राचुर्य की बात कहता है जिसका तात्पर्य यह है कि हास्य के आलम्बन-रूप में भले लोगों का धिक्कण न किया जाना चाहिए, वरन् उक्त प्रकार के पात्रों को ही हास्य का आलम्बन बनाना चाहिए। इसके आगे ‘नाट्यशास्त्र’ स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित नाम छै हास्य-भेदों का उल्लेख करके कहता है कि इनमें दो-दो को क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के पात्रों का हास्य समझना चाहिए। अभिनव तारतम्य के अनुसार इन्हें छै हास्य भेद न मानकर हास्य की तीन अवस्थाएँ मात्र मानते हैं, जिनमें से प्रत्येक में पात्र की प्रकृति के अनुसार हास का एक-एक जोड़ा रहता है; तथा प्रत्येक जोड़े में पहला हास कम संक्रामित तथा दूसरा अधिक संक्रामित होता है।

हास्य की उक्त अवस्थाओं का परिचय देते हुए ‘नाट्यशास्त्र’ कहता है कि स्मित उस धीर हास्य को कहते हैं, जिसमें कपोल तथा नेत्र थोड़ा-थोड़ा खिल भर जाते हैं, पर दौँत नहीं दिखाई देते। हसित में कपोल तथा नेत्र खिल जाते हैं, तथा दौँत भी झलकने लगते हैं। ऐसा सस्वर, मधुर एवं समयानुकूल हास विहसित कहा गया है जिसमें कपोल तथा नेत्र संकुचित और मुख लाल हो जाता है। जब हँसने में नाक फूल जाय, दृष्टि टेढ़ी हो जाय तथा सिर झुक

जाय, तो उसे उपहसित समझना चाहिये। अनवसर का वह हास, जिसमें आँसू निकल पड़े, तथा कन्धे और सिर हिल जायें, अपहसित माना जाता है, तथा जिसमें आँसू आने के साथ ही हँसने वाले का स्वर कर्णकटु हो जाय तथा पसलियाँ बवाने की ज़रूरत पड़ जाय, ऐसा उद्धत हास अतिहसित कहा जाता है। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार रूपकों के कथानक में जैसी भी स्थिति प्रसंग-प्राप्त हो उसके अनुसार पात्र की प्रकृति देखते हुए यथोचित हास का प्रयोग कराया जाना चाहिए।

३. करुण रस

शोक नामक स्थायी भाव से उत्पन्न रस को करुण कहा गया है। यह शाप के क्लेश में पड़े प्रिय के वियोग, वैभव-नाश, वध, वन्धन, पलायन, उपघात तथा व्यसन-जन्य संकट इत्यादि विभावों से उत्पन्न होता है। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार इसका अभिनय अश्रुपात, विलाप, मुख के सूखने तथा फीका पड़ने शिथिलता, अच्छवास तथा स्मृतिहीनता आदि अनुभावों के प्रदर्शन से किया जाना चाहिए। इसके व्यभिचारी भावों में निर्वेद, खानि, चिन्ता, औत्सुक्य, वेग भ्रम, मोह, श्रम, भय, वैवर्ष्य तथा आश्रुपातादि होते हैं। यहाँ पर वैवर्ष्य तथा आश्रुपातादि को अनुभावों तथा व्यभिचारियों दोनों के अन्तर्गत गिनाया जाने के कारण पुनरुक्ति दोष जैसा प्रतीत होता है, परन्तु अभिनव ने कहा है कि यहाँ आश्रुपातादि की दो दशाएँ मानी गयी हैं। एक तो स्पष्ट रूप से होने वाले आश्रुपात है, जो अनुभावों में गिनाया गया है, दूसरा सूक्ष्म चित्तवृत्ति रूप आश्रुपात है, जो व्यभिचारियों में गिनाया गया है। अभिनव ने इसका उदाहरण भी दिया है कि जब कहा जाता है कि 'अमुक व्यक्ति का गला भरा हुआ है, केवल आँसू नहीं निकल रहे' ऐसी स्थिति में आश्रुपात की सूक्ष्म चित्तवृत्ति का ही अभिनय किया जाना चाहिए जो व्यभिचारी का ही अभिनय होगा।

४. रौद्र रस

राक्षस, दानव तथा उद्धत मनुष्यों की प्रकृति वाले संग्राम-हेतुक क्रोध नामक स्थायी भाव वाले रस को यहाँ रौद्र कहा गया है। नाट्य में प्रकृति का अर्थ चरित्र अथवा पात्र होता है। अस्तु रौद्र रस के आश्रय राक्षस, दानव तथा

हिंसक प्रवृत्ति वाले मनुष्य माने जाते हैं। संग्राम-हेतुक की परिभाषा करते हुए अभिनव संग्राम को रौद्र का उचित हेतु न मानकर उसे वीर का ही उचित हेतु मानते हैं। उनके अनुसार यहाँ संग्राम-हेतुक क्रोध का अर्थ यही समझना चाहिए कि कभी-कभी संग्राम में भी उत्साह का स्थान क्रोध ले लेता है। वही संग्राम-हेतुक क्रोध है। अथवा प्रायः क्रोध बिना संग्राम के ही होता है।

‘नाट्य शास्त्र’ रौद्र रस की उत्पत्ति क्रोध, आघर्षण, अधिरोप, असत्य-भाषण, अभिद्रोह तथा मात्सर्य आदि उद्दीपन विभावों से मानता है। अभिनव ने यहाँ एक प्रश्न उठाया है कि क्रोध के आश्रय-रूप व्यक्ति तो स्वाभाविक रूप से क्रोधी होते हैं। अतः क्या उनके क्रोध की उत्पत्ति हेतु किसी उद्दीपन विभाव की भी आवश्यकता होती है? इसके समाधान में उन्होंने ही कहा है कि शूँकि क्रोध किसी दूसरे के ऊपर ही जाग्रत होता है, इसलिए इसको उद्दीपन विभाव मानना उचित ही है। इस प्रसंग में अभिनव ने आघर्षण का अर्थ स्त्रियों का अपमान, अधिरोप का अर्थ देश-जाति आदि की निन्दा तथा अभिद्रोह का अर्थ हत्या करने का प्रयास माना है।

‘नाट्य शास्त्र’ में ताडन (पीटना), पाटन (फाड़ना), पीडन (मसलना), छेदन (काटना), भेदन, प्रहरण, आहरण (शस्त्र धारण करना), शस्त्र-संपात, संप्रहार तथा रुधिराकर्षण आदि को रौद्र रस के कर्म कहा गया है। साथ ही आँखें लाल करने, भौहें चढ़ाने, ओठ चबाने, गाल फड़काने तथा हाथ रगड़ने आदि को इसके अनुभाव कहा गया है, जिनके द्वारा इसका अभिनय किया जाना चाहिए। कुछ आचार्यों के अनुसार कर्मों तथा अनुभावों के इस भेद का कारण यह है कि मंच पर ताडनादि कर्मों का प्रदर्शन न करके उनको सूचना मात्र दी जाती है, तथा आँखें लाल करना आदि अनुभावों का प्रदर्शन किया जाता है। इनमें प्रदर्शन-सम्बन्धी भेद ही प्रतीत है, वैसे हैं तो ताडनादि भी अनुभाव ही।

रौद्र रस के व्यभिचारी भावों में यहाँ असम्भोह (दृढ़ता), उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, गर्व, रोमांच, कम्पादि की गणना की गई है। इस प्रकार उत्साह, वीर और रौद्र दोनों में होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि वीरोत्साह में व्यक्ति प्रहारादि ही करता है, परन्तु रौद्रोत्साह में वह काटने-फाड़ने के कर्मों तक बढ़ जाता है।

५. वीर रस

उत्तम प्रकृति वाले उत्साह-स्वायी-भावात्मक रस को यहाँ वीर कहा गया है। उत्तम प्रकृति का तात्पर्य अभिनव ने यही बताया है कि उत्तम लोगों का ही उत्साह रस के रूप में आस्वादित किया जाता है, नीचों का नहीं। इस रस की उत्पत्ति असम्मोह, अध्यवसाय, नीति, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप तथा प्रभाव आदि विभावों से कही गयी है। अभिनव ने यहाँ असम्मोह तथा अध्यवसाय को एक साथ मिलाकर 'विचारपूर्ण अध्यवसाय' ऐसा अर्थ किया है। इसी प्रकार उन्होंने संधि-विग्रहादि छै गुणों के उचित प्रयोग को नीति, इन्द्रिय-जय को विनय, सेना को बल, शत्रु-पराभव को पराक्रम, प्रसिद्धि को प्रताप तथा सम्पत्ति-पूर्णता को प्रभाव माना है। उनके अनुसार उपर्युक्त गुण नायक के अतिरिक्त प्रतिनायक तथा मंत्री आदि में होने पर भी वीर रस को ही उत्पन्न करते हैं।

'नाट्यशास्त्र' के अनुसार वीर रस का अभिनय स्वैर्य, धैर्य, त्याग, वैशा-रस तथा शौर्य आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए। इनका अर्थ बताते हुए अभिनव कहते हैं कि यहाँ अविचलता को स्वैर्य, मनोभावों के गोपन को धैर्य, युद्धादि किया को शौर्य, दान को त्याग तथा सामाजिक उपायों के उचित प्रयोग को वैशा-रस कहा गया है धृति, मति, गर्व, आवेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति, तथा रोमांच आदि को 'नाट्य शास्त्र' वीर रस के व्यभिचारीभाव मानता है।

६. भयानक रस

'नाट्यशास्त्र' में भय नामक स्वायीभाव वाले रस को भयानक रस कहा गया है। उसे विकृत ध्वनियों, पिशाच-दर्शन, भुगाल तथा जलूक (के खन) त्रास, उद्वेग, शून्य-गृह, वन-गमन तथा बन्धुजनों के वध आदि के दर्शन, श्रवण एवं चर्चा आदि विभावों से उत्पन्न होने वाला कहा गया है। हाथ-पैरों के कम्पन, नेत्रों की चंचलता, रोमांच, मुख का फीका पड़ना तथा स्वर-परिवर्तन आदि अनुभावों के प्रदर्शन से इसके अभिनय की बात कही गयी है। इसके व्यभिचारी भावों में स्तम्भ, स्वेद, गद्गद, रोमांच, कम्पन, स्वर परिवर्तन, विवर्णता, शंका, मोह, दैन्य, आवेग, चपलता, त्रास, जड़ता, अपस्मार, मरण आदि की गणना की गई है।

इस प्रसंग में 'नाट्यशास्त्र' में भय के स्वाभाविक तथा कृत्रिम दो रूपों की चर्चा हुई है। नीच पुरुषों, स्त्रियों तथा बालकों में तो स्वाभाविक भय होता है, और उत्तम प्रकृति के पुरुषों में कृत्रिम भय। उदाहरणार्थ जब कोई राजा अपने गुरु से भयभीत होने का प्रदर्शन करता है, तो इसे कृत्रिम भय माना जाना चाहिए, जो उसकी हीनता का द्योतक न होकर, उत्तमता को ही प्रकट करता है।

७. वीभत्स रस

जुगुप्सा (घृणा) नामक स्थायी भाव वाले रस को वीभत्स कहा गया है। उसकी उत्पत्ति अहृद्य, अपवित्र, अश्रिय तथा अनिष्ट के दर्शन, श्रवण तथा चर्चा आदि विभावों से कही गयी है। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार इसका अभिनय अंगों तथा मुख के सिकोड़ने, झुकने, वमन करने तथा शरीर के अंगों को हिलाने आदि अनुभावों के प्रदर्शन से किया जाना चाहिए। अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि तथा मरण आदि उसके व्याभिचारी भाव माने गये हैं। 'नाट्यशास्त्र' तथा 'अभिनव-भारती' दोनों में ही इस रस का विवेचन संक्षेप में ही मिलता है। इस लेखक को तो प्रतीत होता है, कि वीभत्स को प्रमुख नाट्यरस मानने का कोई सशक्त कारण नहीं मिलता, क्योंकि उसका जो रूप यहाँ वर्णित है, उसके स्थायित्व में ही सन्देह होता है। हाँ, लोक में विषय-वासनादि के प्रति स्थायी जुगुप्सा हो सकती है।

८. अद्भुत रस

विस्मय नामक स्थायीभाव वाले रस को यहाँ अद्भुत कहा गया है। उसे दिव्य जनों के दर्शन, ईप्सित मनोरथ की प्राप्ति, उपवन तथा देवमन्दिर में गमन, सभा, विमान, माया तथा इन्द्रजाल आदि विभावों से उत्पन्न होने वाला कहा गया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए अभिनव कहते हैं कि दिव्यजन का तात्पर्य गन्धर्व आदि से है। ईप्सित और मनोरथ को विशेषण विशेष्य न मान कर वे ईप्सित को ऐसी इच्छा कहते हैं, जिसकी प्राप्ति सम्भव हो तथा मनोरथ को ऐसी इच्छा, जिसकी प्राप्ति असम्भव हो। उनके अनुसार जिसने सुन्दर उपवन तथा देव-मन्दिर पहिले नहीं देखे, उसके लिये वे भी विस्मयकारक विभाव होंगे। इसी प्रकार अपनी शोभा तथा विचित्रता के कारण सभा तथा रथ आदि

भी विस्मय जनक होते हैं। माया और इन्द्रजाल से तो विस्मय उत्पन्न होता ही है।

‘नाट्यशास्त्र’ के अनुसार इस रस का अभिनय आँखें फाड़कर तथा अपलक देखने, रोमांच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान, निरन्तर हाहाकार एवं भुजा, वस्त्र तथा अंगुली आदि के घुमाने आदि अनुभावों (कार्यों) के प्रदर्शन से किया जाना चाहिए। इसके व्यभिचारी भावों में स्तम्भ, अश्रु, स्वेद, गद्गद, रोमांच, आवेग, संभ्रम, प्रहर्ष, चपलता उन्माद, धृति, जड़ता एवं प्रलय आदि की गणना की गई है।

इस प्रसंग में ‘नाट्यशास्त्र’ कहता है कि जो भी वाक्य, शिल्प तथा कार्य अन्यो की अपेक्षा अतिशय अर्थात् अधिक उत्कृष्टता से युक्त होता है, वही अद्भुत रस की उत्पत्ति का कारण (विभाव) बन जाता है।

यहाँ तक आठ नाट्यरसों का विवेचन हो चुकने पर आगे ‘नाट्यशास्त्र’ में रसों के उपभेदों की चर्चा की गई है।

रसों के उपभेद

‘नाट्यशास्त्र’ में वचन, वेष तथा क्रिया के भेद से शृङ्गार रस तीन प्रकार का माना गया है। अभिनव ने वचन-जन्य, वेष-जन्य तथा क्रिया-जन्य शृङ्गार को क्रमशः सत्व, रज तथा तम से सम्बन्धित माना है। ‘नाट्यशास्त्र’ में वचन, वेष तथा अंगों से व्यक्त होने के कारण हास्य तथा रौद्र के भी तीन-तीन प्रकार माने गये हैं। धर्म, अर्थ तथा स्वजनादि के नाश से सम्बन्धित करुण रस भी यहाँ तीन प्रकार का ही माना गया है। इसी भाँति धर्मवीर, दानवीर तथा युद्धवीर के भेद से वीर रस भी तीन ही प्रकार का कहा गया है। स्पष्ट है कि यहाँ दयावीर का उल्लेख नहीं है। गुरु आदि से होने वाला उत्तम पुरुषों का कृत्रिम भय, चौरादि से उत्पन्न भय तथा स्त्री-बालकों आदि को लगने वाला भय इन तीन प्रकार के भेदों से भयानक रस भी तीन प्रकार का माना गया है। यहाँ वीभत्स रस दो प्रकार का माना गया है, जो विष्ठादि से उत्पन्न होता है उसे उद्देशी तथा अशुद्ध वीभत्स कहा गया है। तथा जो शक्तिरादि से उत्पन्न होता है, उसे क्षोभण तथा शुद्ध कहा गया है। अभिनव ने लिखा है कि उनके गुरु भट्टतोत एक अन्य प्रकार का वीभत्स मानते हैं, तथा उसे ही शुद्ध कहते हैं, और उक्त

दोनों को अशुद्ध । इस बीभत्स में स्त्री आदि के प्रति घृणा उत्पन्न होती है तथा यह मोक्ष का साधक होता है । दिव्य दर्शन से होने वाले विस्मय को दिव्य अद्भुत रस तथा हर्ष से उत्पन्न होने वाले विस्मय को आनन्दज अद्भुत रस कहा गया है । इस प्रकार अद्भुत भी यहाँ दो प्रकार का माना गया है ।

शान्त रस

सक्त आठ नाट्य रसों के विवेचन के उपरान्त 'नाट्यशास्त्र' में शान्त रस का भी विवेचन मिलता है । 'नाट्यशास्त्र' के रसाध्याय के अन्त में यह श्लोक आया है :—

एवमेते रसा सेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥

इससे प्रतीत होता है कि आरम्भ में 'नाट्यशास्त्र' में आठ ही रसों का विवेचन रहा होगा और शान्त रस का प्रकरण कभी बाद में जोड़ा गया होगा ।

यहाँ शम स्थायीभाव वाले मोक्ष-प्रवर्तक रस को शान्त रस कहा गया है । इसे तत्त्वज्ञान वैराग्य तथा चित्तशुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न होने वाला कहा गया है । यम, नियम, अध्यात्म, ज्ञान, ध्यान, धारणा, उपासना, दया तथा प्रवृज्या-ग्रहण आदि इसके अनुभाव कहे गये हैं, जिनके प्रदर्शन से इसका अभिनय किया जाना चाहिए । निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तंभ तथा रोमांचादि इसके व्यभिचारी भाव कहे गये हैं ।

'नाट्यशास्त्र' में रति आदि भावों को तो विकृति तथा शम को प्रकृति कहा गया है । उसके अनुसार अपने-अपने निमित्त प्राप्त करके रति आदि भाव शान्त से ही उत्पन्न होते हैं, तथा निमित्तों के अभाव में पुनः शान्त में ही लीन हो जाते हैं । इस प्रकार भवभूति के 'एको रसः करुण एव' वाले कथन के अनुसार यहाँ भी 'एको रसः शान्त एव' जैसी ध्वनि निकलती है । अभिनव ने अपनी व्याख्या में शान्त रस का विस्तार से विवेचन करके इसका समर्थन किया है ।

भाव

'नाट्यशास्त्र' के सप्तम अध्याय में भावों का विवेचन किया गया है ।

यहाँ सर्वप्रथम प्रश्न उठाया गया है कि इनको भाव क्यों कहा जाता है। उत्तर में कहा गया है कि :-

वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः ।

अर्थात् चूँकि ये वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा काव्यार्थ-रूप रस की भावना कराते हैं, अतएव इन्हें भाव कहा जाता है। भाव शब्द 'भू' धातु से करणार्थक घञ् प्रत्यय करने पर बनता है। यहाँ भावित, वासित तथा कृत आदि शब्दों को पर्याय कह कर बताया गया है कि इसका अर्थ व्याप्त होना है। यहाँ उदाहरण दिया गया है कि जैसे लोक में कहा जाता है कि अमुक पदार्थ, अमुक गन्ध से वासित अथवा भावित है, तो इसका तात्पर्य यही होता है कि वह गन्ध उस पदार्थ में व्याप्त हो गया है। इसी प्रकार भाव भी काव्यार्थ में व्याप्त होकर उसे भावित करता तथा आस्वाद्य बनाता है। यहाँ कहा गया है:-

विभावेनाद्भुतो योऽर्थोऽनुभावेऽथ गम्यते ।

वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥ ७-१

अर्थात् जो अर्थ विभावों के द्वारा प्रस्तुत होकर अनुभावों तथा अभिनयों द्वारा प्रतीति-योग्य बनता है, वह भाव कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि भावों के अन्तर्गत विभावों तथा अनुभावों की गणना नहीं की गई। भाव यहाँ ४९ ही माने गये हैं, जिनमें ८ स्थायी, ३३ व्यभिचारी तथा ८ सात्त्विक भाव आते हैं। इस प्रकार भाव यहाँ तीन प्रकार के ही माने गये हैं। विभावों और अनुभावों की गणना 'नाट्यशास्त्र' भावों में नहीं करता। वह उन्हें लोक-स्वभाव का अनुसरण करने वाली वाह्य स्थितियाँ ही मानता है। उसके अनुसार चित्तवृत्ति-रूप केवल उक्त तीन प्रकार के ही भाव हैं।

विभाव

विभाव की परिभाषा करते हुए यहाँ कहा गया है कि :-

विभावो विज्ञानार्थः ।

अर्थात् विभाव का अर्थ विज्ञान है। तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा विभिन्न

प्रकार के अभिनयों से काव्यार्थ को विभावित किया जाता है, वह विभाव कहलाता है। यहाँ कारण, निमित्त तथा हेतु को विभाव का पर्याय कहा गया है। इस प्रकार चित्त वृत्तियों को उद्बुद्ध करने का कारण-रूप विषय ही विभाव है। जैसे कि विपत्ति का पड़ना, शोक को उद्बुद्ध करके करुण रस का कारण बनता है।

अनुभाव

अनुभाव की परिभाषा करते हुए 'नाट्यशास्त्र' कहता है कि :—

अनुभाव्यतेऽनेन बागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति ।

अर्थात् जिनके द्वारा वाचिकादि अभिनय अनुभावित होते हैं, वे अनुभाव कहे जाते हैं। इस प्रकार अनुभाव से अभिनय की ऐसी चेष्टाओं का संकेत मिलता है, जिनसे आश्रय के हृदयगत भावों को व्यक्त रूप मिलता है, और जो सामाजिक को भाव-विशेष की प्रतीति कराती है। इस प्रकार अनुभाव अभिनय के अन्तर्गत होने वाली विभिन्न चेष्टाएँ तथा व्यापार ही है। अनुभाव भावों के साथ ही उत्पन्न तथा तिरोहित होने वाले माने जाते हैं। उदाहरणार्थ शोक की दशा में अश्रुपातादि के होने को अनुभाव कहा जाता है, जो शोक के रहने तक रहता, तथा उसके तिरोहित होने पर तिरोहित हो जाता है।

स्थायी भाव

'नाट्यशास्त्र' उन भावों के अन्तर्गत स्थायी भावों को प्रमुख स्थान देता है। उनके अनुसार अन्य भावों तथा स्थायी भावों में सामान्यतः समानता ही दृष्टिगत होती है। ये सभी चित्तवृत्ति रूप ही हैं। केवल चित्त के अन्दर इनकी स्थायिता ही इनकी प्रमुखता का कारण है। अनेकों व्यभिचारी आदि बीच-बीच में आ-आकर के उसकी सहायता करते और चले जाते हैं, परन्तु वह बना रहता है। अतएव यहाँ उसे प्रमुख भाव मानकर कहा गया है कि वही रसत्व को प्राप्त होता है। इस प्रसंग में 'नाट्यशास्त्र' ने रति, हास, उत्साह, विस्मय, क्रोध, भय, शोक तथा जुगुप्सा-इन आठ को स्थायी भाव कह कर इनका विस्तृत विवेचन किया है। निश्चित ही ये अन्य भावों की अपेक्षा अधिक टिकाऊ होते हैं। 'नाट्यशास्त्र' में इस प्रसंग में निर्वेद का उल्लेख नहीं है। इससे भी प्रतीत होता है कि उसमें शान्त रस का प्रकरण बाद में ही जुड़ा है।

स्थायी भावों की संख्या आठ ही क्यों मानी गई है, इसका उत्तर देते हुए अभिनव कहते हैं कि उत्पन्न हुए प्राणी के अन्दर स्थायीभाव-रूप आठ ही वासनाएँ रहती हैं। वह इन्हें साथ लेकर ही उत्पन्न होता है। अस्तु ये सहज वासनाएँ हैं, जो प्रत्येक प्राणी में होती हैं। यह अवश्य है कि किसी-किसी व्यक्ति में इनमें से किसी-किसी वासना का न्यूनाधिक्य हो सकता है। इस प्रकार ये आठों व्यक्ति के अन्दर स्वाभाविक रूप से सदैव विद्यमान रहती हैं। सदा विद्यमान रहने के कारण ही इन्हें स्थायी भाव कहा जाता है। इसके विपरीत व्यभिचारी भाव-रूप वासनाएँ वे हैं, जो व्यक्ति के अन्दर सदैव विद्यमान नहीं रहती, वरन् योग्य विभावादि के उपस्थित होने पर ही उत्पन्न होती हैं।

व्यभिचारी भाव

स्थायी भावों के विवेचन के उपरान्त 'नाट्यशास्त्र' व्यभिचारी भाव की परिभाषा करते हुए कहता है कि:-

विविधभाभि मुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः ।

अर्थात् रसों की ओर अभिमुख होकर उन रसों में जो विविध प्रकार से संचरण-शील होते हैं, उन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है। ये व्यभिचारी भाव अनुभावों से युक्त होकर स्थायी भाव की रसत्व की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार इन्हें स्थायी भाव का सहायक माना जाना चाहिए। जैसे निर्वेद, ग्लानि तथा चिन्ता आदि व्यभिचारी शोक के रसत्व की ओर जाने में सहायक बनते हैं। इसके आगे 'नाट्यशास्त्र' में तीनों व्यभिचारी भावों का अलग-अलग विस्तृत विवेचन किया गया है।

सात्विक भाव

स्तंभादि आठ सात्विक भावों का विवेचन आरम्भ करने के पूर्व 'नाट्यशास्त्र' में यह प्रश्न उठाया गया है कि इन्हें सात्विक क्यों कहा जाता है। इसका उत्तर देते हुए यहाँ कहा गया है कि सत्व की उत्पत्ति समाहित मन से होती है। अस्तु सात्विक भाव मन की एकाग्रता से ही निष्पन्न होते हैं। उनका अभिनय

बिना मन की एकाग्रता के सम्भव नहीं। अन्य-मनस्क वृत्ति के द्वारा इनका अभिनय असम्भव है। उदाहरणार्थ अश्रुपात का अभिनय एक ऐसे पात्र द्वारा कैसे हो सकता है, जो स्वयं दुःखी नहीं है। दुःख में अपने मन को तल्लीन किये बिना तो केवल रसासिपन का ही अभिनय हो सकता है, जो संचारीभाव मात्र होगा। साक्षात् अश्रुपात का अभिनय तो तभी संभव है, जब पात्र अपने मन को स्वयं उस दुःख में लीन करे। ऐसा अश्रुपात ही सात्विक भाव माना जाता है।

इसके उपरान्त स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नामक सात्विक भावों का अलग-अलग विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् 'नाट्यशास्त्र' भाव-विवेचन को समाप्त करता है, प्रकरण को समाप्त करते हुए यहाँ कहा गया है कि नाट्य-कुशल लोगों को चाहिए कि वे अनेक भावों तथा अर्थों से युक्त स्थायी, सात्विक तथा व्यभिचारी भावों का समायोजन नाट्य में उसी कौशल के साथ करें, जैसे कि एक चतुर मालाकार नाना प्रकार के पुष्पों को यथा-स्थान बूँधकर एक सुन्दर माला बनाता है।

इस प्रकार 'नाट्यशास्त्र' में रसों तथा भावों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। इसे देखने पर ज्ञात होता है कि इस विवेचन में ग्रन्थकार की दृष्टि नाट्य-परक ही रही है। रसों तथा भावों का यह सारा का सारा विवेचन अभिनय से ही अधिक सम्बन्धित प्रतीत होता है, पाठ्य काव्य से कम। परवर्ती काल में अभिनय से सम्बन्धित इस रस-प्रक्रिया का विवेचन प्रायः पाठ्य काव्य के प्रसंग में ही अधिक किया गया है, और उसमें अनेक प्रकार का वाद-विवाद उत्पन्न किया गया है।

पूर्वरङ्ग

अभिनय से पूर्व प्रयुक्त की जाने वाली विधि पूर्वरङ्ग कही जाती है। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में पूर्वरङ्ग से सम्बन्धित एक कथा दी हुई है। भरत द्वारा अमृत-मंथन नामक समवकार का अभिनय किये जाने पर जब सभी देव-दानव प्रसन्न हुये, तब ब्रह्मा ने उन्हें शिवजी को भी नाट्य दिखाने की आज्ञा दी। आज्ञा स्वीकार करके भरत हिमालय पर्वत पर गये, तथा शिवजी को, पूर्वरङ्ग-पूर्वक त्रिपुरदाह नामक डिम का अभिनय दिखाया। इस पर शिवजी परम प्रसन्न हुये; और ब्रह्मा द्वारा सृष्ट नाट्य की प्रशंसा करने लगे। इसी बीच उन्होंने ब्रह्मा से कहा कि, "मैंने भी संघ्या-काल में नृत्य करते हुये, नानाप्रकार के करणों तथा अंगहारों से विभूषित एक नृत्त का स्मरण किया है। इस नृत्त का प्रयोग आप भी अपने नाट्य के पूर्वरङ्ग में कर सकते हैं। अब आपने जिस पूर्वरङ्ग का प्रयोग किया है, वह तो शुद्ध है। इस नृत्त के संयोग से वह चित्र नाम वाला हो जायगा।"

यह सुनकर ब्रह्मा ने शिवजी से प्रार्थना की कि भगवन्! उस नृत्त-विधि का उपदेश करने की कृपा करें। इस पर शिवजी ने तण्डु मुनि को बुलाकर आज्ञा दी, कि वे इस नृत्त-विधि की शिक्षा भरत को दें। इसके अनन्तर तण्डु ने भरत को इस नृत्त (ताण्डव) की शिक्षा प्रदान की। इस भाँति प्रतीत होता है, कि प्रारंभ में पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत नृत्त-प्रदर्शन नहीं किया जाता था। इसी से नृत्त-रहित पूर्वरङ्ग को शुद्ध कहा गया है। कालान्तर में जब उसके अन्तर्गत नृत्त प्रदर्शन भी होने लगा, तो उसे चित्र कहा जाने लगा होगा।

नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय में पूर्वरङ्ग-विधान की विस्तृत चर्चा हुई है। यहाँ पूर्वरङ्ग के अठारह अंग बताये गये हैं। इनमें से नौ तो परदे के अन्दर किये जाने वाले हैं, तथा नौ परदा खुलने के उपरान्त। परदे के अन्दर किये जाने वाले पूर्वरङ्ग के अंग अधोलिखित हैं :—

१. प्रत्याहार, २. अवतरण, ३. आरंभ, ४. आश्रावणा, ५. वक्तृपाणि, ६. परिघट्टना, ७. संघोटना, ८. मार्गासारित, तथा ९. आसारित। इनके अतिरिक्त परदा खुलने के उपरान्त होने वाले पूर्वरंग के अंग अधोलिखित हैं :—
१. उत्पादन, २. परिवर्तन, ३. नान्दी, ४. गुण्कावकृष्टा, ५. रंगद्वार, ६. चारी, ७. महाचारी, ८. त्रिक, तथा ९. प्ररोचना।

नाट्यशास्त्र वाद्ययन्त्रों के विधिवत् स्थापन को प्रत्याहार कहता है। वाद्यकों के बैठने की व्यवस्था को यहाँ अवतरण कहा गया है। परिणीत क्रिया अर्थात् आलाप के आरंभ को ही आरंभ कहा गया है। वाद्ययन्त्रों के स्वर मिलाकर उनमें सामंजस्य लाने को ही आश्रावणा कहा गया है। वाद्यों की विविध वृत्तियों अर्थात् शैलियों को विभक्त करने के लिये वक्तृपाणि का प्रयोग किया जाता है। तन्त्री आदि वाद्य-यन्त्रों को ओजपूर्ण बनाने के लिये परिघट्टना का विधान है। तन्त्री अर्थात् वीणा में अंगुलियां चलाने को संघोटना कहते हैं। तन्त्री तथा भाण्ड वाद्यों के साथ-साथ प्रयोग को मार्गासारित कहा जाता है। कलापात के लिये की जाने वाली क्रिया को आसारित कहा गया है।

यवनिका के उठाने तथा नान्दी-पाठ करने वालों के प्रवेश को नाट्यशास्त्र में उत्पादन कहा गया है। चारों दिशाओं में धूम-धूम कर लोकपालों की बंदना किये जाने को ही परिवर्तन कहा गया है। देवता, ब्राह्मण तथा राजा आदि के आशीर्वाचनों से युक्त पाठ को नान्दी कहा गया है।

नान्दी

नान्दी की परिभाषा बताते हुए नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि चूंकि नान्दी में प्रयुक्त किये जाने वाले मधुर शब्दों तथा आशीर्वाचनादि से प्रेक्षक नन्दित अर्थात् आनंदित होते हैं, अतएव उसे नान्दी कहा जाता है। इसके द्वारा संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा का आश्रय लेकर प्रेक्षकों को विविध प्रकार से आनंदित किया जाता है। नाट्यशास्त्र के छत्तीसवें अध्याय में भी नान्दी की विशेषताय बताते हुये कहा गया है कि इसमें प्रयुक्त प्रिय शब्दों, गीतों, तथा वाद्यों आदि से देवता असुर तथा मानव सभी आनंदित होते हैं, और विघ्न-बाधा आदि दूर होते हैं। यहाँ विवाहों तथा यज्ञों आदि में भी नान्दी-पाठ करने की बात कही गई है, तथा उसे वेद-पाठ के समान पावन कहा गया है। नाट्यशास्त्र के प्रथम

अध्याय में हुये देवासुर-संग्राम के अभिनय के प्रसंग में केवल नान्दी के ही प्रयोग का उल्लेख हुआ है, पूर्वरंग का नहीं। इसके अनन्तर अमृत-मंथन के अभिनय-प्रसंग में भी पूर्वरंग का उल्लेख नहीं हुआ। पूर्वरंग का उल्लेख नाट्यशास्त्र में वर्णित तीसरे अभिनय त्रिपुरदाह के प्रसंग में हुआ है। अस्तु प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में अभिनय के पूर्व केवल नान्दी का ही प्रयोग होता रहा होगा, तथा कालान्तर में पूर्वरंग का विकास होने पर नान्दी को उसका एक अंग बना दिया गया होगा।

नाट्यशास्त्र में अर्धहीन ध्वनियों के जर्जर-संबन्धी गान को शुष्कावकुष्टा (ध्रुवा) कहा गया है। आंगिक तथा वाचिक अभिनय की प्रथम अवतारणा को रंगद्वार कहा गया है। शृंगार रस की व्यञ्जना करने वाली नृत्त-संबन्धी गति ही चारी कहलाती है। सूत्रधार, विदूषक, तथा परिपाश्वर्क के आपसी संलाप को त्रिगत कहा जाता है। सूत्रधार द्वारा नाट्यवस्तु के उपस्थापन के साथ, समाजिकों को अभिनय-प्रेक्षण के हेतु आमंत्रण दिये जाने को प्ररोचना कहा गया है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित पूर्वरंग के उपर्युक्त अंगों में से कई ऐसे हैं, जो आज प्रायः पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाते। नाट्यशास्त्र ने इन समस्त अंगों के प्रयोग का प्रयोजन देवताओं की प्रसन्नता बताया है। पूर्वरंग के इन अंगों को देखने से प्रतीत होता है कि परदे के अन्दर सम्पन्न किये जाने वाले अंगों के द्वारा नाट्यगृह में शीघ्र उपस्थित हो जाने वाले प्रेक्षकों का मनोरंजन किया जाता रहा होगा। संभवतः बालक तथा कुछ अन्य उत्तुक प्रेक्षक नाट्यारंभ के हेतु निर्धारित समय से पूर्व ही नाट्यगृह में उपस्थित हो जाते रहे होंगे। अतः इन शीघ्र आ जाने वाले कुछ प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ परदे के अन्दर से ही कुछ न कुछ किया जाता रहा होगा। इसके अनन्तर अधिकांश प्रेक्षकों के आ जाने पर पूर्वरंग के शेष नौ अंग, परदा हटाकर सबके समक्ष संपन्न किये जाते रहे होंगे।

नाट्यशास्त्र पूर्वरंग के मध्य निर्गीत अथवा बहिर्गीत (नाट्यवस्तु से बाहर के गीत) गाने का भी विधान करता है; और कहता है कि इससे राक्षसादि प्रसन्न होते हैं। इसी भाँति पूर्वरंग के मध्य ताण्डव तथा लास्य नृत्त करने का भी विधान है, जिसे यहाँ नाट्य में शोभा उत्पन्न करने वाला कहा

गया है। नाट्यशास्त्र के वर्णन से प्रतीत होता है कि उपर्युक्त अठारह अंगों का विधान शुद्ध तथा चित्र दोनों प्रकार के पूर्वरंगों के लिये है। अंतर केवल यही प्रतीत होता है कि परदा खुलने के उपरान्त नान्दी-पाठ के साथ-साथ नृत्त का भी प्रयोग करने पर शुद्ध पूर्वरंग चित्र रूप में परिणत हो जाता है।

पूर्वरंग के उक्त अंगों के सम्पन्न हो जाने पर मंच पर स्थापक प्रवेश करता है, तथा कुछ सुमधुर छन्दों से सामाजिकों को प्रसन्न करके कलात्मकता के साथ नाट्य वस्तु का संकेत करते हुये प्रस्तावना करता है। नाट्यशास्त्र कहता है कि यदि पूर्वरंग का विधान विधि-पूर्वक संपन्न किया जाता है, तो नाट्य में कोई विघ्न नहीं होता, तथा इसमें प्रमाद करने पर अनिष्ट होता है। नाट्यशास्त्र द्वारा पूर्वरंग-विधान पर इतना बल दिये जाने के उपरान्त भी परवर्ती काल में संभवतः पूर्वरंग का सर्वाङ्गीण विधान चालू नहीं रह सका। कारण कि अनेक प्रसिद्ध परवर्ती नाटकों में भी केवल नान्दी अथवा उसका उल्लेख तथा प्रस्तावना-मात्र प्राप्त होती है।

अभिनय

नाट्यशास्त्र में अभि उपसर्गपूर्वक णीञ् प्राप्तो धातु में अच्प्रत्यय जोड़ने पर अभिनय शब्द की निष्पत्ति बताई गई है। इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए नाट्यशास्त्र में कहा गया है:-

यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः ॥८०६

अर्थात् चूँकि यह नाट्य-प्रयोग (के अर्थ) को प्रेक्षकों तक ले जाता अर्थात् पहुँचाता है, इसीलिए इसे अभिनय कहा जाता है। यह अभिनय यहाँ चार प्रकार का कहा गया है। ये चार प्रकार हैं-१. आङ्गिक २. वाचिक ३. आहार्य तथा ४. सात्विक। विविध प्रकार के रूपक इन चारों प्रकार के अभिनयों के द्वारा ही प्रयुक्त किये जाते हैं। इन अभिनयों के द्वारा ही सहृदय प्रेक्षक नाट्यार्थ को ग्रहण करके रस की अनुभूति करते हैं। इस प्रकार अभिनय नाट्य का एक प्रमुख अंग है। आगे नाट्यशास्त्र के अनुसार इन चारों प्रकार के अभिनयों का परिचय दिया जा रहा है।

१. आङ्गिक अभिनय

नाट्यशास्त्र में शरीर के अंगों द्वारा किये जाने वाले अभिनय को आङ्गिक कहा गया है। उसमें सर्वप्रथम आङ्गिक अभिनय का ही विवेचन किया गया है। यह विवेचन बहुत विस्तृत है तथा नाट्यशास्त्र के ८ वें से लेकर १३ वें तक, छः अध्यायों में फैला हुआ है। इसके अन्तर्गत अंगों, उपांगों तथा चेष्टाओं द्वारा किये जाने वाले विविध प्रकार के अभिनयों का वर्णन हुआ है। यहाँ शिर, हस्त, वक्षः, स्वल, पार्श्व भाग (बगलों), कटि तथा पैरों को अंग और नेत्र, भौंहों, नासिका, कपोल तथा ऊपर और नीचे के ओष्ठों को उपांग कहा गया है।

शिर तथा उसके उपांग

नाट्यशास्त्र में सर्व प्रथम शिर तथा उससे सम्बन्धित उपांगों के अभिनय का वर्णन किया गया है। शिर के यहाँ तेरह प्रकार बताए गए हैं— १. आकम्पित २. कम्पित ३. ध्रुत ४. विध्रुत ५. परिबाहित ६. उद्बाहित ७. अवधुत ८. अंचित ९. निर्हंचित १०. परावृत्त ११. उरिस्त १२. अधोगत तथा १३. लोलित। तात्पर्य यही है कि नाट्य में शिर का प्रयोग उक्त तेरह रूपों में किया जा सकता है। नाट्यशास्त्र ने इन तेरहों प्रकार के शिर-रूपों की स्थिति बताकर यह भी समझाया है कि किस प्रकार के अर्थ का अभिनय करने में किस प्रकार के शिर-रूप का प्रयोग करना चाहिए, उदाहरणार्थ शिर को धीरे-धीरे ऊपर-नीचे हिलाना आकम्पित कहलाता है, और तेजी से हिलाना कम्पित। उपदेश, प्रश्न, सम्बोधन, आदेश तथा स्वाभाविक भाषणादि के अभिनय में आकम्पित शिर का प्रयोग किया जाना चाहिए तथा क्रोध, वितर्क, डाँटने और बीमारी आदि के अभिनय में कम्पित शिर का। इसके अतिरिक्त शिर को धीरे-धीरे अगल-बगल हिलाना ध्रुत कहलाता है और तेजी से हिलाना विध्रुत। इनमें से ध्रुत शिर का प्रयोग अनिच्छा, विषाद, विस्मय, विश्वास, निषेध तथा अगल-बगल देखने के अभिनय में तथा विध्रुत शिर का प्रयोग शीत, भय, ज्वर तथा मद्यपान की प्रारंभिक दशा के अभिनय में किया जाना चाहिए। इसी प्रकार यहाँ शिर की शेष सभी स्थितियों के लक्षण तथा प्रयोगों का वर्णन विस्तार से किया गया है।

इसके आगे नाट्यशास्त्र में नेत्रों द्वारा डाली जाने वाली छत्तीस प्रकार की दृष्टियों से किये जाने वाले अभिनयों का वर्णन किया गया है। यहाँ शृंगार-रादि आठ रसों के अभिनय-हेतु कान्ता, भयानका, हास्या, करुणा, अद्भुता, रोद्री, वीरा तथा बीभत्सा दृष्टियों का एवं आठ स्थायी भावों के अभिनय-हेतु स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, हृप्ता, भयान्विता, विस्मिता, तथा जुगुप्सिता दृष्टियों का लक्षण एवं प्रयोग के सहित वर्णन हुआ है। साथ ही शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना तथा शक्तिता आदि बीस प्रकार की दृष्टियों का वर्णन और मिलता है, जो विभिन्न संचारी भावों के अभिनय के लिये प्रयुक्त की जाती है। उदाहरण के लिये जिस दृष्टि में नेत्रों के पुट तथा तारा चंचलता त्यागकर सामान्य रूप में स्थित रहते हैं, तथा जो बाह्य वस्तुओं को देखने में असमर्थ-सी होकर शून्य आकाश को ही देखती रहती है, उसे शून्या दृष्टि कहा गया है। इस प्रकार की शून्या दृष्टि का प्रयोग चिन्ता तथा स्तम्भ के अभिनय में किया जाना

चाहिए। इसी प्रकार यहाँ शेष समस्त दृष्टियों के लक्षण तथा प्रयोग बताये गये हैं। यहाँ उपलब्ध दृष्टि-सम्बन्धी अभिनयों के विवेचन की सूक्ष्मता को देखकर प्राचीन भारत की अति विकसित नाट्यकला का परिचय मिलता है।

नाट्य-शास्त्र में नौ प्रकार के नेत्रों के ताराओं, नौ प्रकार के नेत्रों की पलकों तथा सात प्रकार के भौंहों के भी अभिनय, लक्षण तथा प्रयोग सहित बनाये गये हैं। साथ ही यहाँ छंद प्रकार के दर्शनों का भी विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त नासिका के ६, गण्ड के ६, अपर के ६, चिबुक के ७, मुख के ६, मुख राशों के ४ तथा ग्रीवा के ६ प्रकार के कर्माँ के लक्षण तथा विभिन्न अभिनयों में उनके प्रयोगों की विधि बताई गई है।

हस्ताभिनय

नाट्यशास्त्र के नवम अध्याय के अन्तर्गत प्रमुख अंगों में से केवल हाथों द्वारा किये जाने वाले अभिनयों का ही विस्तृत विवेचन मिलता है। यहाँ पर विभिन्न अर्थों के अभिनय के हेतु हाथों की ६४ प्रकार की मुद्राओं का वर्णन किया गया है। इनमें से २४ मुद्राएँ केवल एक हाथ की, १३ स्थितियाँ मिले हुए दोनों हाथों की तथा शेष स्थितियाँ नृत्तहस्तों की कही गई हैं। नृत्तहस्तों की विभिन्न स्थितियों का उपयोग प्रमुखतः नृत्त में ही होता है, परन्तु अभिनय में भी सौन्दर्याधान की दृष्टि से उनका उपयोग होने के कारण यहाँ उनका भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार मोटे तौर पर हाथों का अभिनय असंयुत (अकेला हाथ), संयुत (मिले हुए दोनों हाथ) तथा नृत्तहस्त के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। इन तीनों के क्रमशः २४, १३ तथा २३ प्रकार बताये गये हैं, जो कुल मिलाकर ६४ होते हैं। आगे उक्त तीनों प्रकार के हस्ताभिनयों के केवल एक-एक प्रकार के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

१. असंयुत हस्त की पताका-मुद्रा:—इसमें हाथ की अंगुलियाँ परस्पर मिली हुई तथा आगे की ओर फैली रहती हैं; और अंगूठा नीचे की ओर कुछ झुका रहता है। चाँटा मारने, किसी को प्रेरित करने तथा घृप, हर्ष और गर्व का अनुभव करने में इस स्थिति के हाथ को मस्तक के बराबर ऊँचा उठाया जाना चाहिए। इसके प्रयोग अन्य भी कई अर्थों के प्रदर्शनार्थ किए जा सकते हैं।

२. संयुत हस्त की अंजलि-मुद्रा:—दोनों हाथों को पताका की स्थिति में करके जब एक साथ जोड़ दिया जाता है, तो अंजलि की मुद्रा बन आती है। इसका उपयोग गुरुजनों के अभिवादन आदि के अभिनय में किया जाता है।

३. नृत्यहस्त की चतुरस्र मुद्रा:—दोनों हाथ करकामुख^१ मुद्रा में करके छाती के सामने आठ अंगुल की दूरी पर इस प्रकार रखे जाय कि दोनों हाथों की कुह-नियाँ कंधों के बराबर रहें। इसका प्रयोग प्रमुखतः नृत्य में किया जाता है।

अन्य अंगों के अभिनय

नाट्यशास्त्र के दशम अध्याय में वक्ष, पार्श्व, कटि तथा पैरों द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले अभिनय का वर्णन है। साथ ही यहाँ पेट, उरु तथा जंघा द्वारा किये जाने वाले अभिनय का भी वर्णन किया गया है।

वक्ष

यहाँ पर वक्ष की आभुन्न, निर्भुन्न, प्रकम्पित, उद्वाहित तथा सम इन पाँच स्थितियों के लक्षण तथा उनके विनियोग बताये गये हैं। उदाहरणार्थ जब छाती और कंधे कुछ झुके हों तथा पीठ उठी हो, तो इसे उर की आभुन्न स्थिति कहा जाता है। इसका प्रयोग सीधता, विषाद, मूर्च्छा, भय, बीमारी, वर्षा तथा शीत से पीड़ित होने आदि के अभिनय में किया जाना चाहिए।

पार्श्व

दोनों पार्श्वों (बगलों) की नत, समुन्नत, प्रसारित, विवर्तित तथा अप-सृत ये पाँच स्थितियाँ कही गई हैं। यहाँ इनके लक्षण तथा प्रयोग भी वर्णित हैं। उदाहरणार्थ जब एक ओर का कंधा, बगल तथा कमर कुछ टेढ़े झुके हों, तो इसे पार्श्व की नत स्थिति कहा जाता है तथा यदि उक्त अंग कुछ ऊपर उठे हों, तो पार्श्व की समुन्नत स्थिति बन आती है। इनमें से नत का प्रयोग एक ही स्थान पर खड़े-खड़े किसी अन्य व्यक्ति तक पहुँचने तथा समुन्नत का प्रयोग मुड़कर भागने आदि के अभिनय में किया जाता है।

कटि

छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता तथा उद्वाहिता ये पाँच स्थितियाँ कटि की कही गई हैं, जिनका प्रयोग नृत्य तथा नाट्य दोनों में होता है। उदाहरणार्थ कमर का मध्यभाग जब पीछे की ओर कुछ मुड़ा होता है, तो उसे कटि की छिन्ना स्थिति कहा जाता है। इसका प्रयोग व्यायाम, शीघ्रता तथा चारों ओर देखने आदि के अभिनय में किया जाता है।

पाद

उद्धटित, सम, ब्रतलसंचर, अंचित तथा कुंचित ये पाँच स्थितियाँ पैरों की कही गई हैं। विभिन्न प्रकार के अभिनयों में इनका प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ दोनों पंजों के ऊपर लड़े होकर एड़ियों को ऊपर उठाकर पुनः भूमि पर रखे जाने को उद्धटित कहते हैं। इसका प्रयोग उद्धटित नामक करण के प्रयोग के पूर्व किया जाता है।

उरु

उरु अर्थात् पिठलियों की भी पाँच स्थितियाँ बताई गई हैं, जिनके नाम हैं—कम्पन, बलन, स्तम्भन, उद्धर्तन तथा निवर्तन। जैसे, एड़ियों को ऊपर नीचे की ओर कँपाने से उसकी कम्पित स्थिति बन जाती है। इसका प्रयोग भयभीत अधम पात्रों के चलने के अभिनय में किया जाता है।

जंघा

आवर्तित, नत, लिप्त, उद्वाहित तथा परिवृत्त ये पाँच स्थितियाँ जाँघों की कही गई हैं। उदाहरणार्थ चलने में जब बायाँ पैर तो दाहिने की ओर पड़े तथा दाहिना बायें की ओर, तो इसे आवर्तित स्थिति कहा जाता है। इसका प्रयोग विद्रूपक की गति के अभिनय में किया जाता है।

उदर

क्षाम, खल्व तथा पूर्ण ये तीन स्थितियाँ पेट की कही गई हैं। इनमें

दुबला-पतला पेट क्षाम, अन्दर घुसा हुआ पेट खल्व तथा भरा-पूरा पेट पूर्ण कहा जाता है। हास, रुदन, निश्वास तथा जँभाई आदि के अभिनय में क्षाम, बीमारी, तपस्या, बकान तथा भूख आदि के अभिनय में खल्व और उच्छ्वास, स्थूलता, वातादि रोग तथा अधिक खा लेने आदि के अभिनयार्थ पूर्ण पेट का प्रयोग किया जाना चाहिए।

घारी, मण्डल तथा गतिप्रचार

नाट्यशास्त्र में आंगिक अभिनय के अन्तर्गत विविध अंगों तथा उपांगों द्वारा किये जाने वाले अभिनयों का तो विस्तृत वर्णन मिलता ही है, साथ ही यहाँ घारी, मण्डल-विधान तथा गतिप्रचार के ऊपर भी पर्याप्त लिखा गया है। आगे क्रमशः इन सब पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

घारी

नाट्यशास्त्र के ग्यारहवें अध्याय में चारियों का निरूपण किया गया है। घारी की परिभाषा इस प्रकार दी गई है —

एवं पादस्य जंघायाः उरोः कट्यास्तथैव च ।

समानकरणाच्चेष्टा चारीति परिकीर्तिता ॥ ११. १ ॥

इसके आगे फिर लिखा हुआ है —

एकपादप्रचारो यः सा चारीत्यभिसंज्ञिता ॥ ११. ३ ॥

इससे प्रतीत होता है कि पैर, जंघा, कमर तथा वक्षःस्थल को उचित स्थिति में रखकर, एक डग आगे बढ़ाकर खड़े होने की नाटकीय मुद्रा ही घारी है। आगे घारी का महत्व बताते हुए कहा गया है —

चारीभिः प्रस्तुतं नृत्तं चारीभिश्चेष्टितं तथा ।

चारीभिः सस्त्रमोक्षश्च चार्यो युद्धे च कीर्तिताः ॥

यदेतत् प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीध्वेव संस्थितम् ॥ ११. ५-६ ॥

इससे प्रतीत होता है कि घारी की मुद्रा में आकर ही नृत्य, चेष्टाएँ, सस्त्रप्रहार तथा युद्धादि के अभिनय किये जाते हैं, तथा नाट्य में तो इस मुद्रा की अत्य-

धिक आवश्यकता होती है। इस प्रकार कलात्मक ढंग से ढंग बढ़ाने की मुद्रा ही चारी प्रतीत होती है।

नाट्यशास्त्र में विभिन्न प्रकार के कार्यों के अभिनय हेतु सोलह प्रकार की भीमी तथा सोलह प्रकार की आकाशीय चारियों का वर्णन मिलता है। इनमें से भीमी चारियों का प्रयोग भूमि सम्बन्धी अभिनयों के लिए तथा आकाशीय चारियों का प्रयोग आकाश सम्बन्धी अभिनयों के लिए किया जाना चाहिए।

मण्डल

नाट्यशास्त्र के अनुसार कई चारियों के संयोग से मण्डल की उत्पत्ति होती है। मृत्त, युद्ध, प्रहार तथा द्वन्द आदि के अभिनय में पात्र सीधे न चलकर मण्डलों के ही अनुसार चलते हैं। अस्तु ये मण्डल भी पात्रों के चलने-फिरने में कलात्मकता लाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। नाट्यशास्त्र के बारहवें अध्याय में दस भूमिक तथा दस आकाशीय मण्डलों का वर्णन किया गया है, जिन्हें मुद्रादि के अभिनय में प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

गति प्रचार

नाट्यशास्त्र के तेरहवें अध्याय में विभिन्न प्रकार की गतियों का वर्णन उपलब्ध होता है, जो विभिन्न पात्रों द्वारा विभिन्न प्रकार के अभिनयों में कलात्मकतापूर्वक प्रयुक्त की जानी चाहिए। नाट्यशास्त्र का यह विवेचन अभिनय की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।

यहाँ पर नाट्यशास्त्र कहता है, कि पात्र जब मंच पर प्रवेश करता है, तब उसे सीधे न चलकर कलात्मकतापूर्वक चलते हुए आना चाहिए, तथा इस बीच उचित वाद्यों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। यहाँ यह भी बताया गया है, कि चलते समय पात्रों के विभिन्न अंगों की स्थिति किस प्रकार की होनी चाहिए। साथ ही यहाँ यह भी बताया गया है कि विभिन्न प्रकार के पात्रों के कदमों (Steps) की लंबाई कितनी होनी चाहिए तथा ढंग भरने में कितना समय लगना चाहिए। इस प्रसंग में नाट्यशास्त्र कहता है—

धैर्योपपन्ना गतिरुत्तमानाम्
 मध्या गतिर्मध्यमसंमतानाम् ।
 द्रुता गतिश्च प्रचुराधमानाम्
 लयत्रयं सत्यवशेन योज्यम् ॥ १३-१३ ॥

अर्थात् उत्तम प्रकृति के पात्रों की गति धैर्ययुक्त अर्थात् धीमी, मध्यम पात्रों की मध्यम, तथा अधम पात्रों की गति तेज होनी चाहिए ।

नाट्यशास्त्र में विभिन्न पात्रों द्वारा विभिन्न रसों के प्रसंग में प्रयुक्त की जाने वाली गतियों का भी वर्णन मिलता है । उदाहरणार्थ शृंगार रस के प्रसंग में प्रकट रूप से प्रेम करने वाले प्रेमी पात्र के आगे-आगे मार्गदर्शन के लिए दूती की चलना चाहिए । प्रेमी को ललित चरणन्यास करते हुए धीमी गति से आगे बढ़ना चाहिए तथा यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके अंगों में सौष्टव बना रहे । इसके विपरीत प्रच्छन्न रूप से प्रेम करने वाले प्रेमी को दूती के साथ धीमी गति से दबे पाँव चलना चाहिए । उसे संकित रूप में बाहर से आने वाली आहटों के प्रति सतर्क रहकर इधर-उधर देखते हुए, काँपते हुए तथा कभी-कभी लड़खड़ाते हुए चलना चाहिए ।

नाट्यशास्त्र में राजा, मन्त्री, कंचुकी, विट, तपस्वी, शकार, दूत, पागल, उन्मत्त, बालक, स्त्री, अंधे व्यक्ति, रथ, अश्व, नौका तथा आकाश-यानादि की गतियों का भी वर्णन किया गया है । उदाहरणार्थ अंधे अथवा अँधेरे में चलने वाले पात्र को धरती में पैर रगड़ते हुए तथा आगे की ओर हाथ हिलाते हुए चलना चाहिए । इसके साथ ही यहाँ विभिन्न पात्रों के बैठने तथा लेटने के अभिनय की विधि भी विस्तार से बताई गई है ।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में आंगिक अभिनयों का वर्णन बहुत विस्तार से किया गया है, जिसमें अनेक बातों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन हुआ है । इससे प्राचीन मनीषियों के अभिनय-सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान तथा कला-प्रियता का अच्छा परिचय मिलता है ।

२. वाचिक अभिनय

वाणी के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक कहा गया है ।

नाट्यशास्त्र वाचिक अभिनय को नाट्य का स्तरीर कहता है। इसका यहाँ अत्यधिक महत्व बताया गया है, क्योंकि आंगिक, आहार्य तथा सात्विक, ये तीनों प्रकार के अभिनय वाक्यार्थ की ही व्यंजना करते हैं। वाचिक अभिनय का वर्णन नाट्यशास्त्र के पन्द्रहवें से उन्नीसवें तक पाँच अध्यायों में विस्तार से किया गया है।

नाट्यशास्त्र के पन्द्रहवें अध्याय के पूर्वार्ध में स्वर, व्यंजन, शब्द, पद, संज्ञा, क्रिया, वचन, पुरुष, उपसर्ग, निपात, प्रत्यय, विभक्ति, संधि तथा समास आदि का वर्णन मिलता है, तथा उत्तरार्ध में छन्दों का। इसके आगे सोलहवें अध्याय में भी विभिन्न छन्दों के ही लक्षण तथा उदाहरण बताये गये हैं। इस अध्याय का तो नाम ही 'छन्दों-विधिति अध्याय' है। इस प्रकार ये दोनों अध्याय नाट्यशास्त्र की अपेक्षा व्याकरण तथा छन्दशास्त्र से अधिक सम्बन्धित प्रतीत होते हैं, यद्यपि शब्दों, वाक्यों तथा छन्दों आदि का प्रयोग नाट्य में भी होने के कारण इन्हें नाट्यशास्त्र से असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता। नाट्य-रचना की दृष्टि से उक्त विषयों का ज्ञान आवश्यक ही कहा जायगा।

नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में ३६ काव्य-लक्षणों, ४ अलंकारों, १० काव्य-दोषों तथा १० काव्य-गुणों का वर्णन मिलता है। यह सारा वर्णन प्रायः काव्यशास्त्र से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है। इन विषयों का उपयोग भी नाट्य-रचना में ही किया जा सकता है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ केवल चार ही अलंकार प्राप्त होते हैं, जिनसे नाट्यशास्त्र की प्राचीनता प्रकट होती है। ये अलंकार हैं— उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक।^१ इनमें से उपमा के प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किञ्चित्-सदृशी ये पाँच भेद माने गये हैं; जो प्रचलित उपमा-भेदों से भिन्न है। इसी प्रकार यमक के यहाँ दस भेद बताये गये हैं, जो अन्यत्र प्रायः इस रूप में नहीं मिलते।

नाट्यशास्त्र ने विभिन्न रसों के प्रसंग में प्रयोग करने योग्य अक्षरों, अलंकारों तथा छन्दों आदि का भी निर्देश किया है। उदाहरणार्थ वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस के प्रसंग में लघु अक्षरों तथा उपमा और रूपक अलंकारों के प्रयोग का निर्देश मिलता है। वीभत्स और करुण रस के प्रसंग में गुरु अक्षरों के प्रयोग करने की बात कही गई है। इसके अतिरिक्त शृंगार रस के वर्णन

में मृदु वृत्तों, वीर तथा रौद्र रसों में जगती, अतिजगती तथा संकृति छन्दों और कण्ठ रस में शक्यरी तथा अतिधृति छन्दों का प्रयोग करने का निर्देश मिलता है। शेष में रसों में अर्थ के अनुसार छन्दादि के प्रयोग करने की बात कही गई है।

सत्रहवें अध्याय के अन्त में नाट्यकारों को निर्देश देते हुए यह भी कहा गया है कि उन्हें नाट्य में ऐसे उदार तथा मधुर शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए, जिन्हें नारीपात्र सरलता से उच्चारित कर सकें। नाट्यशास्त्र कहता है कि यदि ललित नाट्यों में 'बेभ्रीडित' जैसे कठिन पदों का प्रयोग कर दिया जाता है, तो वे उसी प्रकार सुशोभित नहीं होते, जैसे कोई वेश्या दण्ड-कमण्डलु-धारी ब्राह्मणों के बीच शोभित नहीं होती।

नाट्य में प्रयोज्य भाषाएँ

पन्द्रहवें से सत्रहवें अध्याय तक वाचिक अभिनय में प्रयुक्त की जाने वाली संस्कृत भाषा की विशेषताओं का वर्णन कर चुकने के उपरान्त नाट्यशास्त्र के अठारहवें अध्याय में प्राकृत भाषाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर यहाँ नाट्यों में प्रयुक्त की जाने वाली चार प्रकार की भाषाओं का विवरण इस प्रकार मिलता है—

अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च ।

तथा योग्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता ॥ १८-२६ ॥

अर्थात् नाट्य में अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा तथा योग्यन्तरी भाषा इन चार भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। इनमें से अतिभाषा देवताओं की, आर्यभाषा राजाओं की तथा योग्यन्तरी भाषा पशु-पक्षियों की भाषा कही गई है। जातिभाषा के प्रयोक्ताओं का यहाँ स्पष्ट निर्देश तो नहीं किया गया है, परन्तु उसका तात्पर्य जन-साधारण में प्रचलित भाषा प्रतीत होती है। यहाँ जातिभाषा के दो भेद इस प्रकार बताये गये हैं —

जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम् ।

प्राकृतं संस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम् ॥ १८.३० ॥

अर्थात् चारों वर्णों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली जातिभाषा के संस्कृत तथा प्राकृत ये दो भेद हैं ।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि अतिभाषा का तात्पर्य तो वैदिक संस्कृत से तथा आर्यभाषा का तात्पर्य श्रेष्ठजनों द्वारा प्रयुक्त आदर्श संस्कृत से रहा होगा । योग्यन्तरी-भाषा तो मानवैतर योनियों के पशु-पक्षियों की ही भाषा है, जिसका प्रयोग नाट्यधर्मी (रूढ़िगत) रूप में किया जाता रहा होगा । जातिभाषा जो सर्वप्रमुख प्रतीत होती है, वह जनता की ही भाषा प्रतीत होती है । इसके दो भेदों से प्रतीत होता है कि जनता का कुछ भाग तो प्रचलित संस्कृत बोलता रहा होगा तथा कुछ भाग प्राकृत ।

सात प्रादेशिक भाषाएँ

नाट्यशास्त्र में प्रदेशों के आधार पर सात प्रकार की प्राकृत भाषाओं का उल्लेख इस प्रकार मिलता है —

मागध्ववंतिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।

वाह्ली-का दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ॥ १८.४७ ॥

इन सात प्रदेशीय भाषाओं का वर्णन करके नाट्यशास्त्र कहता है कि इनमें से जिस प्रदेश में नाट्य-प्रयोग करना हो, उसी प्रदेश की भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए । इतना अवश्य है कि यहाँ शौरसेनी को अधिक महत्व दिया गया है और कहा गया है कि इसका प्रयोग सभी शुद्ध जातियों द्वारा कराया जाना चाहिए ।

सात विभाषाएँ

उक्त भाषाओं के अतिरिक्त यहाँ सात विभाषाएँ भी बताई गई हैं, जिन्हें शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रविड़, आन्ध्र तथा वनवासियों की भाषाएँ कहा गया है । नाट्यशास्त्र नाट्यकारों को निर्देश देता है कि उक्त जातियों के पात्रों से उन्हीं में प्रचलित विभाषाओं का प्रयोग कराया जाना चाहिए ।

प्रादेशिक भाषाओं की विशेषताएँ

नाट्यशास्त्र में प्रादेशिक भाषाओं की विशेषताएँ बताते हुए कहा गया है कि गंगा और सागर के मध्य के प्रदेश में एकार-बहुला, विन्ध्याचल और सागर के मध्य के प्रदेश में नकार-बहुला, सौराष्ट्र तथा अवनति प्रदेश में चकार-बहुला, हिमालय, सिन्धु तथा सौवीर प्रदेशों में उकार-बहुला तथा चम्बल नदी और अर्बुद गिरि के आसपास के प्रदेशों में ओकार-बहुला भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए।

विभिन्न पात्रों द्वारा प्रयोज्य भाषाएँ

नाट्यशास्त्र में यह भी बताया गया है कि नाट्यकार को किस प्रकार के पात्र द्वारा किस प्रकार की भाषा प्रयुक्त कराना चाहिए। यहाँ चारों प्रकार के नायकों द्वारा संस्कृत के ही प्रयुक्त कराने की बात कही गई है। साथ ही कारण-विशेष से नायक द्वारा प्राकृत का भी प्रयोग कराया जा सकता है। ऐश्वर्य से मत्त तथा दारिद्र्य से ग्रस्त उत्तम पात्र द्वारा भी प्राकृत का ही प्रयोग कराया जाना चाहिए। इसी प्रकार जैन श्रमणों, भिक्षुओं, बालकों, ग्रह-गृहीतों, स्त्रियों तथा नीच जनों आदि से प्राकृत ही प्रयुक्त करानी चाहिए। इसके विरुद्ध वेदाध्ययन करने वालों, रानियों, वेश्याओं तथा नारी कलाकारों द्वारा संस्कृत ही प्रयुक्त कराई जानी चाहिए। अप्सराओं द्वारा सुविधानुसार संस्कृत या प्राकृत कोई भी भाषा प्रयुक्त कराई जा सकती है।

नाट्यशास्त्र के उन्नीसवें अध्याय में विभिन्न चरित्रों के लिए प्रयुक्त की जाने वाली सम्बोधन विधि, कल्पित चरित्रों के नाम रखने की विधि तथा पाठ्यगुणों का वर्णन हुआ है। इनमें से पाठ्यगुणों का ज्ञान तो नाट्यप्रयोग की दृष्टि से आवश्यक प्रतीत होता है तथा सम्बोधन और नाम रखने की विधि का ज्ञान नाट्य-रचना की दृष्टि से।

सम्बोधन विधि

नाट्यशास्त्र के अनुसार ऋषियों, देवताओं, धर्मगुरुओं तथा इनकी पत्नियों को भगवन् और भगवति कहकर सम्बोधित करना चाहिए। ब्राह्मण

को आर्य, राजा को महाराज, गुरु को उपाध्याय तथा बुद्धों को तात कहकर सम्बोधित किया जाना चाहिए। ब्राह्मण राजा को नाम लेकर भी सम्बोधित कर सकता है। सचिवों को ब्राह्मण तो अमात्य अथवा सचिव कहकर सम्बोधित करेंगे, परन्तु शेष हीन लोग आर्य कहकर। मान्य पुरुष को भाव, उससे कुछ छोटे को भारिष, बराबर वाले को वयस्य तथा अधम को हंहो अथवा हण्डे कहकर सम्बोधित किया जाना चाहिए। तपस्वी तथा शान्त मनुष्यों को साधो तथा युवराज को स्वामिन् तथा भद्रमुख कहकर सम्बोधित किया जाना चाहिए। सूत रथी को आयुष्मद् कहकर सम्बोधन करें। इसी प्रकार यहाँ अन्य अनेक चरित्रों द्वारा विभिन्न चरित्रों के सम्बोधन की विधि वर्णित है। इसके आगे कल्पित चरित्रों के नाम रखने की विधि बताई गई है, जिसका उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में पात्र-सम्बन्धी परिच्छेद में किया गया है।

पाठ्यगुण

नाट्यशास्त्र के उन्नीसवें अध्याय के उत्तरार्ध में छः पाठ्यगुणों अर्थात् अभिनय में पात्रों द्वारा किये जाने वाले भाषण के गुणों का वर्णन हुआ है। यहाँ स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार तथा अंगों को पाठ्यगुण कहा गया है।

स्वर

षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद-इन सात को यहाँ स्वर कहा गया है, जो प्रायः गान से सम्बन्धित हैं। यहाँ इनकी परिभाषा न देकर यही बताया गया है कि हास्य तथा शृंगार रस में मध्यम तथा पंचम, वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस में षड्ज तथा ऋषभ, करुण में गांधार तथा निषाद तथा वीभत्स और भयानक में धैवत स्वर का प्रयोग किया जाना चाहिए।

स्थान

उर, कण्ठ तथा शिर इन तीन अंगों को स्थान कहा गया है, जहाँ से स्वर निःसृत होते हैं। ये तीनों स्थान मानव शरीर तथा बीणा दोनों में माने जाते हैं। नाट्यशास्त्र कहता है कि दूरस्थ व्यक्ति से बात करने में शिर से निःसृत, निकटवर्ती से बात करने में उर से निःसृत तथा व्यक्ति के अधिक दूर न होने पर कण्ठ से निःसृत स्वर का प्रयोग किया जाना चाहिए। यहाँ यह भी

बताया गया है कि स्वर को उर से उठाकर सिर से दीप्त किया जाता है तथा कण्ठ से समाप्त ।

वर्ण

यहाँ उच्चारण से सम्बन्धित वर्ण चार प्रकार के कहे गये हैं । वे हैं— १. उदात्त २. अनुदात्त ३. स्वरित तथा ४. कम्पित । ये चारों ही स्वरों के उच्चारण प्रकार प्रतीत होते हैं । व्याकरण आदि में इनमें से प्रथम तीन ही का वर्णन मिलता है, पर यहाँ कम्पित को मिलाकर इनकी संख्या चार कही गई है । यहाँ यह भी बताया गया है कि हास्य तथा शृंगार रस में स्वरित तथा उदात्त, धीर, रौद्र तथा अद्भुत रस में उदात्त तथा कम्पित और करुण, वात्सल्य तथा भयानक रस में उदात्त, स्वरित तथा कम्पित प्रकार का उच्चारण किया जाना चाहिए ।

काकु

काकु की परिभाषा न देकर यहाँ केवल इतना ही कहा गया है कि वाक्य के साकांक्ष और निराकांक्ष भेद से काकु दो प्रकार की होती है । वैसे, विभिन्न प्रकार के भावों तथा दशाओं के कारण विभिन्न रूपों में निकलने वाली कण्ठ ध्वनि ही काकु कहलाती है । इसके प्रयोग के विषय में यहाँ कहा गया है कि साकांक्ष अथवा अपूर्ण अर्थ वाले वाक्यों में कण्ठ तथा उर से निकलने वाली ऐसी ध्वनि का प्रयोग किया जाता है, जो प्रारंभ में तार अर्थात् ऊँची तथा अन्त में मन्द हो । इसके विरुद्ध निराकांक्ष अर्थात् पूर्णार्थक वाक्यों में सिर से निकलने वाली ऐसी ध्वनि का प्रयोग किया जाना चाहिये, जो आदि में मंद तथा अन्त में तार हो । साथ ही यहाँ यह भी कहा गया है कि काकु का प्रयोग रसों तथा भावों के अनुसार किया जाना चाहिए ।

अलंकार

यहाँ पर उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत तथा विलम्बित इन छः को स्वरों के अलंकार कहा गया है । इनमें से सिर से निकलने वाले तार स्वर को उच्च कहते हैं, जिसका प्रयोग दूरस्थ व्यक्ति से भाषण, दूराह्वान तथा त्रासन आदि में किया जाना चाहिये । सिर से ही निकलने वाले तारतर (अधिक ऊँचे) स्वर को दीप्त कहते हैं, जिसका प्रयोग कलह, विवाद, क्रोध तथा धर्षण आदि में

किया जाना चाहिए। उर से निकलने वाले धीमे स्वर को मन्द्र कहते हैं, जिसका प्रयोग निर्बेद, ग्लानि, चिन्ता तथा दैन्य आदि में किया जाना चाहिए। उर से ही निकलने वाले मन्द्रतर अर्थात् अधिक धीमे स्वर को नीच कहते हैं, जिसका प्रयोग व्याधि, यकान तथा मूर्च्छा आदि में किया जाना चाहिए। कण्ठ से शीघ्रता से निकलने वाले स्वर को द्रुत कहते हैं, जिसका प्रयोग बालकों आदि के खिलाने, शीत, भय, काम तथा वेदना आदि की दशाओं में किया जाना चाहिए। कण्ठ से देर तक निकलने वाले मन्द्र स्वर को विलम्बित कहते हैं, जिसका प्रयोग शृंगार, चितर्क, विचार तथा लज्जा आदि के अभिनय में किया जाना चाहिए।

अंग

विच्छेद, अप्रण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन तथा प्रशमन-इन छः को यहाँ पात्रों द्वारा प्रयुक्त पाठ अथवा भाषण के अंग कहा गया है। भाषण के अन्तर्गत लिए जाने वाले विराम को विच्छेद कहते हैं। अर्थ का अनुदर्शक होने के कारण विराम को आवश्यक माना गया है। विराम का नियम बताते हुए नाट्यशास्त्र कहता है—

कार्यो विरामः पादान्ते तथा प्राणवशेन वा ।

शेषमर्थवशेनैव विरामं सम्प्रयोजयेत् ॥ १६-६८

अर्थात् छन्द के पादान्त में अथवा जहाँ साँस समाप्त हो जाय, वहाँ विराम लिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त जहाँ अर्थ की समाप्ति होती हो, वहाँ तो विराम लिया ही जाना चाहिए। इस प्रकार अर्थवशात् छन्द के एक ही पाद में कई विराम लिये जा सकते हैं। जैसे कि अधोलिखित चरण में पाँच विराम प्रस्तुत होने चाहिए—

किम् ? गच्छ, मा विश, सुदुर्जन ! वारितोऽसि, ॥ १६-६९ ॥

लीलापूर्वक मधुरस्वर में अपने भाषण के भावों का समर्पण अथवा प्रेक्षकों के सम्मुख प्रस्तुतीकरण ही अप्रण कहलाता है। विसर्ग वाक्य की समाप्ति को कहते हैं। एक ही साँस में बोले जाने वाले वाक्यांश में विराम न लेना अर्थात्

अविच्छिन्नतापूर्वक बोलना अनुबन्ध कहलाता है। स्वर को उर से उठाकर शिर से दीप्त करके तथा कण्ठ से मन्द करके शोभापूर्वक बोलना दीपन है। जैसे उठे हुए स्वर को बिना वेसुरा किए ही धीमा करना प्रशमन कहा जाता है।

यहाँ उक्त छहों अंगों के रसानुसार प्रयोग करने की बात कही गई है। हास्य और शृंगार में विच्छेद, अर्पण, दीपन, तथा प्रशमन युक्त, वीर, रौद्र तथा अद्भुत में विच्छेद, अनुबन्ध, दीपन तथा प्रशमन युक्त और वीभत्स तथा भयानक रस में विच्छेद तथा अर्पण युक्त पाठ्य का प्रयोग करने की बात कही गई है।

यहाँ अन्त में यह भी कहा गया है, कि वाक्यों में आने वाले ए, ऐ, ओ तथा औ से युक्त वर्णों के उच्चारण को कुछ लम्बा खींचा जाना चाहिए। यहाँ यह भी कहा गया है कि पात्र को चाहिए कि वह न तो पाठ्य का अशुद्ध पाठ ही करे और न छन्द की गति ही भंग करे। उसे न तो अयोग्य स्थल पर विराम ही लेना चाहिए और न दीनता की स्थिति में दीप्त काकु का प्रयोग ही करना चाहिए। यह अवश्य है कि कारणवशात् विराम के नियमों में छूट भी हो सकती है। पात्रों को चाहिए कि वे दोषों से रहित तथा लक्षणों, गुणों, स्वरों और अलंकारों से युक्त पाठ्य का सुन्दर रूप में प्रयोग करें। जिन पाठ्य गुणों का वर्णन यहाँ किया गया है, उन्हें संस्कृत तथा प्राकृत दोनों ही भाषाओं के पाठ्यों में प्रयुक्त करने की सलाह दी गई है।

३. आहार्य अभिनय

नेपथ्य के अन्दर की जाने वाली अंग-रचना आदि को ही यहाँ आहार्य अभिनय कहा गया है। नाट्यशास्त्र कहता है कि उपयुक्त वस्त्रालंकारों तथा अंग-रचना आदि से युक्त पात्र थोड़ी ही चेष्टाओं के द्वारा अर्थ के अभिनय में सफल हो जाता है। अतः इस पर विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। नेपथ्य से सम्बन्धित विधान यहाँ चार प्रकार का कहा गया है, जिनका नाट्यशास्त्र के तेईसवें अध्याय में विस्तृत वर्णन मिलता है। इन चारों के नाम हैं—पुस्त, अलंकार, अंगरचना तथा संजीव।

पुस्त

प्रदर्शन के लिए दपती, वस्त्र तथा काष्ठादि से बनाई गईं शैल, यान तथा हाथी आदि की कृत्रिम आकृतियाँ पुस्त के अन्तर्गत आती हैं। यह पुस्त तीन प्रकार का कहा गया है। जिनके नाम हैं सन्धिम, व्याजिम तथा चेष्टिम। चटाई, दपती, वस्त्र तथा काष्ठादि को जोड़कर बनाई जाने वाली आकृतियाँ तो सन्धिम पुस्त के अन्तर्गत हैं, तथा यन्त्रों से निर्मित आकृतियाँ व्याजिम के अन्तर्गत। इसके अतिरिक्त चलने-फिरने वाली कृत्रिम वस्तुएँ चेष्टिम के अन्तर्गत मानी गई हैं।

अलंकार

शरीर में धारण करने योग्य मालाएँ, गहने तथा वस्त्र अलंकार के अन्तर्गत माने गए हैं। यहाँ पर मालाओं, गहनों तथा वस्त्रों के विविध प्रकारों का वर्णन मिलता है। नाट्यशास्त्र में विभिन्न प्रदेशों तथा जातियों के पात्रों के योग्य विभिन्न प्रकार के वस्त्रालंकारों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि यहाँ अंग-प्रत्यंग में धारण करने योग्य अनेकों प्रकार के आभूषणों का वर्णन हुआ है, परन्तु नाट्यशास्त्र कहता है कि उनका उतना ही प्रयोग करना चाहिए, जितना स्वाभाविक प्रतीत हो सके। शरीर को गहनों से लदा देना अच्छा नहीं माना गया है।

अंग-रचना

विभिन्न रंगों के प्रयोग से पात्र के शरीर के वर्ण को चरित्र के वर्ण के अनुरूप बनाने को ही अंग-रचना कहा गया है। सफ़ेद, नीले, पीले तथा लाल रंग को यहाँ प्रमुख रंग कहा गया है। इनके मिश्रण से अन्य अनेक प्रकार के उपरंग बन जाते हैं। अंग-रचना के लिये रंगों का प्रयोग चरित्र के देश, जाति, अवस्था तथा प्रकृति को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। नाट्यशास्त्र में विभिन्न प्रकार के चरित्रों के योग्य विभिन्न प्रकार के रंगों का वर्णन विस्तार से किया गया है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को गौर और वैश्य तथा शूद्र को श्याम वर्ण का रखा जाना चाहिए। तपस्वी, किरात, बर्बर, आन्ध्र, ब्रविड़ तथा पुलिन्द आदि लोगों को असित वर्ण से चित्रित करना चाहिए।

संजीव

रंगमंच पर उपस्थित किए जाने वाले जीवधारो पशु-पक्षियों की गणना संजीव के अन्तर्गत की गई है। संभवतः प्राचीन काल में अर्ध प्रदर्शनार्थ नाट्य में कतिपय पशु-पक्षियों का भी उपयोग किया जाता रहा होगा।

इस प्रकार चारों प्रकार के नेपथ्य-विधानों का वर्णन करके नाट्यशास्त्र कहता है कि नाट्योपकरणों का निर्माण काष्ठ, लाख तथा चमड़ा आदि हल्की वस्तुओं से ही करना चाहिए, लोहा आदि वजनदार धातुओं से नहीं। कारण कि वजनदार वस्तुओं के प्रयोग में पात्र को कठिनाई होती है। नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रयोक्ता को समस्त प्रकार के नाट्योपकरणों का प्रयोग, लोक-प्रचलन तथा अपनी बुद्धि के द्वारा सम्यक् एवं स्वाभाविक रूप में ही करना चाहिए।

४. सात्त्विक अभिनय

यद्यपि नाट्यशास्त्र के आठवें अध्याय में चतुर्थ प्रकार के अभिनय का नाम सात्त्विक कहा गया है, परन्तु चौबीसवें अध्याय में उसका विवरण सामान्याभिनय नाम से मिलता है। अस्तु यहाँ इस चतुर्थ अभिनय के सात्त्विक एवं सामान्य दो नाम मिलते हैं। सत्त्व की परिभाषा देते हुए नाट्यशास्त्र कहता है—

अव्यक्तरूपं सावं हि विज्ञेयं भावसंश्रयम् ।

यथास्थानरसोपेतं रोमांचास्त्रादिभिर्गुणैः ॥ २४.३

अर्थात् सत्त्व का रूप तो अव्यक्त होता है, पर वह रोमांचादि के द्वारा भावों तथा रसों का सहायक होता है। इस सत्त्व का प्रदर्शन ही सात्त्विक अभिनय के नाम से जाना जाता है। इस भाँति सात्त्विक अभिनय का सात्त्व्यं विभिन्न भावों का प्रदर्शन ही है। इसे सामान्य अभिनय संभवतः इसीलिए कहा गया है कि भावों का प्रदर्शन तो आंगिक तथा वाचिक अभिनयों द्वारा भी होता है। अस्तु यह सात्त्विक अभिनय वहाँ भी विद्यमान रहता है। इस भाँति यह प्रायः सभी प्रकार के अभिनयों में एकरूपता लाने का कार्य करता है।

सात्त्विक अभिनय के प्रसंग में नाट्यशास्त्र स्त्री-पुरुषों के शृंगार-सम्बन्धी अनेक प्रकार के भावों, हावों तथा हेलाओं आदि का वर्णन करता है।

प्राचीन काल में नाट्य के अन्दर प्रेम-कथाओं का ही प्राधान्य होने के कारण, यहाँ शृंगार के और विशेष रूप से स्त्रियों के ही भावादि के अभिनय के वर्णन का प्राधान्य मिलता है। यहाँ स्त्रियों के देहात्मक सत्व से भाव की उत्पत्ति कही गई है, जो कवि के अन्तर्निहित भाव को भावित अर्थात् प्रकाशित करने वाला होता है। भाव से ही हाव की उत्पत्ति कही गई है, जिसमें ग्रीवा-भंगिमा तथा भ्रू-विक्षेपादि के द्वारा चरित्र के हृदयगत शृंगार की सूचना मिलती है। इस हाव से ही हेला की उत्पत्ति कही गई है, जिसमें हाव का शृंगारात्मक ललित अभिनय किया जाता है।

इसके आगे यहाँ स्त्रियों के अलंकारों, पुरुषों के सत्व-भेदों, शब्द-स्पर्शादिकों, शील-भेदों तथा कामदशाओं आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। साथ ही यहाँ पर स्त्रियों के विभिन्न प्रकारों का भी विस्तृत वर्णन मिलता है, जो विषय से कुछ असम्बद्ध सा लगता है।

यद्यपि सात्विक अभिनय के प्रसंग में काम-सम्बन्धी भावों के अभिनय का ही वर्णन अधिक मिलता है, तथापि ग्रन्थकार सभ्यता और शालीनता के प्रति सतर्क प्रतीत होता है। वह कहता है—

नापावृता नैकवस्त्रा न रागमधरस्य तु ।

उत्तमा मध्यमा वापि प्रकुर्यात् प्रमदा क्वचित् ॥

अधमानां भवेदेवं विधिः प्रकृतिसंभवः ।

तासामपि ह्यसम्भ्यं यन्न तत्कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ २४-२४०, ४१

अर्थात् उत्तम तथा मध्यम प्रकृति की नारीपात्र को कभी भी खुले अंग, केवल एक वस्त्र पहिनकर तथा ओठों में लाली लगाकर अभिनय नहीं करना चाहिए। अधम प्रकृति की स्त्रियाँ यद्यपि उक्त बातें कर सकती हैं, परन्तु उनसे भी असम्भ्य प्रदर्शन नहीं कराया जाना चाहिए। इस प्रसंग में नाट्यशास्त्र, अभिनय में चुम्बन, आलिंगन, दन्तच्छेद, नखच्छेद, नीवी खींचने तथा स्तन-मर्दन आदि समस्त लज्जा-जनक बातों के प्रदर्शन का स्पष्ट निषेध करता है। इसका कारण बताते हुए वह कहता है—

पितृपुत्रस्तुषांश्चश्रूटृष्यं—यस्मात् नाटकम् ।

तस्मादेतानि सर्वाणि वर्जनीयानि नित्यतः ॥ २४-२६५

क्योंकि नाटक देखने में पिता, पुत्र, सास तथा बहू-बेटियाँ सभी रहती हैं, अतः वहाँ अश्लील प्रदर्शन बिलकुल नहीं किया जाना चाहिए ।

चित्राभिनय

यद्यपि नाट्यशास्त्र अभिनय के चार ही प्रकार मानता है, तथापि यहाँ छन्वीसवें अध्याय में चित्राभिनय का भी वर्णन मिलता है । चित्राभिनय कोई नवीन अभिनय-भेद नहीं है । इसके अन्तर्गत पूर्वोक्त चारों अभिनयों से सम्बन्धित वे बातें ही कही गई हैं, जो उनके प्रसंग में कहने से शेष बच गई थीं । उदाहरणार्थ लू, धूप, वर्षा तथा धूल आदि से परेशानी के अभिनय में पात्र को मुँह ढँक लेना चाहिए । अधम पात्र द्वारा कड़ाके की ठंड का अभिनय शिर, दाँत और ओठों को कंपाकर एवं गात्र-संकोच तथा सों-सी करके किया जाना चाहिए । भावों का अभिनय विभावों तथा अनुभावों के प्रदर्शन से किया जाना चाहिए तथा विभावों का अभिनय अनुभावों के प्रदर्शन से । हर्ष का अभिनय आलिंगन, समित नेत्रों तथा रोमांच द्वारा किया जाना चाहिए । पुरुषों के दुःख का अभिनय आँहें भरने, नीचा मुख करके सोचने तथा आकाशोन्मुख होकर बात करने के प्रदर्शन द्वारा किया जाना चाहिए; तथा स्त्रियों के दुःख का अभिनय रोने, आँहें भरने, छाती और शिर पीटने तथा भूमि पर गिरने के प्रदर्शन द्वारा । पर्वतों तथा ऊँचे वृक्षों का अर्ध-प्रदर्शन फैले हुए हाथों को ऊँचे उठाकर करना चाहिए तथा विस्तृत जलराशि का प्रदर्शन पताका मुद्रा वाले हाथों को आगे फैलाकर । स्वप्न के प्रदर्शन में हस्त-संचार न करके केवल मन्द स्वर में व्यक्ताव्यक्त द्विरुक्त वचन बोलना चाहिए; तथा पहिले किये हुए कार्यों का स्मरण किया जाना चाहिये । इस प्रकार यहाँ अन्य अनेक प्रकार के कार्यों तथा भावों आदि के अभिनय की विधियाँ वर्णित हैं, जिन्हें पहिले नहीं वर्णित किया जा सका था ।

नाट्यशास्त्र कहता है कि जैसे मालाकार नाना प्रकार के पुष्पों द्वारा सुन्दर माला गूँथता है, वैसे ही नाना प्रकार के अंगों, उपांगों, रसों तथा भावों के अभिनय द्वारा नाट्य को सुन्दर बनाया जाना चाहिए । इस प्रसंग में नाट्य-शास्त्र कहता है—

न हि शक्यं हि लोकस्य स्थावरस्य चास्य च ।

शास्त्रेण निर्णयं कर्तुं भावचेष्टाविधिं प्रति ॥

नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।

तस्मात्लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोवृत्तिः ॥ २६-१२५, २६

अर्थात् नाना प्रकार की प्रकृति वाले विनाल स्वावर-जंगम लोक के समस्त भावों तथा चेष्टाओं के अभिनय का विधान शास्त्र द्वारा करना असंभव ही है । अतः इनका अभिनय लोक-ज्ञान द्वारा ही किया जाना चाहिए । अभिनय के प्रसंग में लोक-प्रमाण का महत्व बताते हुए नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि यद्यपि नाट्य के प्रमाण-रूप में वेद, अध्यात्म तथा लोक ये तीनों ही स्वीकार्य हैं, परन्तु इनमें लोक-प्रमाण सर्वोपरि है । उसके शब्दों में—

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम् । २६-१२०

अर्थात् चूँकि नाट्य में लोक के ही स्वभाव का अनुकरण किया जाता है, अतः जिस अभिनय को लोक ठीक समझे, उसे ही ठीक समझना चाहिए; भले ही वह शास्त्रानुसार न भी हो । इस प्रकार नाट्यशास्त्र अभिनय-सम्बन्धी विनाल ज्ञान का परिचय देने के साथ ही अपनी उदारता का भी सुन्दर परिचय देता है । उसमें रूढ़िवाद को प्रशय न दिया जाकर लौकिक-प्रचलन को ही प्राधान्य दिया गया है, जो अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है । नाट्यशास्त्र में अभिनय-सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का विस्तृत वर्णन देखने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल के भारतीय लोग नाट्यकला में बहुत आगे बढ़े हुए थे ।

उपयुक्त अभिनयों के अन्तर्गत बहुत सी बातें तो इस प्रकार की हैं, जिन्हें लोक के कार्यों का वास्तविक अनुकरण कहा जा सकता है, साथ ही बहुत सी बातें ऐसी भी हैं, जो लोक के अनुकरण के अन्तर्गत न आकर नाट्यधर्म अथवा रूढ़ियों के अन्तर्गत आती हैं । उदाहरणार्थ ठंड में सी-सी करना आदि तो लोकानुकरण ही हैं, परन्तु आकाश तथा जल आदि के संकेत तथा विभिन्न प्रकार की हस्तमुद्राएँ आदि नाट्यधर्मों अथवा रूढ़ियों के ही अन्तर्गत आती हैं । इसी से नाट्यशास्त्र अभिनय में लोकधर्म और नाट्यधर्म दोनों के उपयोग की बात कहता है । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नाट्यशास्त्र केवल यथार्थ लोकानुकरण को ही अभिनय नहीं मानता, वरन् उसमें कलात्मकता और रसात्मकता का योग भी आवश्यक समझता है ।



वृत्ति, प्रवृत्ति तथा नाट्यधर्म

क-वृत्तियाँ

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में वृत्ति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। इस शब्द से प्रसंगानुसार मौली तथा व्यापार आदि का बोध होता है। भारती आदि चार वृत्तियों के अतिरिक्त अभिधा आदि शब्द शक्तियाँ भी वृत्तियाँ कहलाती हैं, और वर्ण-संघटना के प्रसंग में पर्या, उपनामरिका तथा ग्राम्या भी तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं। इसप्रकार वृत्ति शब्द कुछ भ्रामक-सा हो गया है।

नाट्यशास्त्र में वृत्तियाँ चार मानी गई हैं। इनके नाम हैं-भारती, सात्वती, आरभटी तथा कौशिकी। इन्हें यहाँ नाट्य की माता कहा गया है। इनकी उत्पत्ति के विषय में यहाँ बाईसवें अध्याय में एक कथा दी हुई है। इसके अनुसार एकबार मदीमन्त मधु-कैटभ असुर भगवान् अच्युत को युद्ध हेतु ललकारने लगा। इस पर दोनों पक्ष एक दूसरे को अनेकों प्रकार के कठोर वचन कहते हुए लड़ने लगे। यह देखकर ब्रह्मा ने भगवान् से कहा कि आप केवल वचनों से भारती का ही प्रयोग क्यों कर रहे हैं? आपको तो इनका वध करना है। ब्रह्मा की बात मानकर भगवान् ने धरती पर बल पूर्वक अपने चरण रखे, जिससे उसमें बड़ा भार उत्पन्न हुआ। यहीं पर भारती वृत्ति की उत्पत्ति हुई। इसके अनन्तर जब भगवान् ने अपना शार्ङ्ग धनुष उठाया, तो उसकी दीप्ति तथा सत्व (शक्ति) के कारण सात्वती वृत्ति की उत्पत्ति हुई। साथ ही जब भगवान् ने विविध अंगहारों तथा लीलाओं के साथ अपने केश-नाश को बाँधा, तो कौशिकी की उत्पत्ति हुई। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की गतियों तथा वेग के साथ उनके युद्ध करने पर आरभटी नामक वृत्ति की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार भगवान् ने वाणी तथा अंगों आदि के द्वारा जो-जो व्यापार किये थे,

उनको विभिन्न रसों एवं भावों से युक्त करके वृत्ति नाम से नाट्य के हेतु ग्रहण कर लिया गया। इस कथा के अनन्तर नाट्यशास्त्र में यह भी कहा गया है कि भारती वृत्ति ऋग्वेद से, सात्वती यजुर्वेद से, कैशिकी सामवेद से तथा आरभटी अथर्ववेद से ली गई। इस प्रकार उक्त दोनों कथन परस्पर-विरोधी-से प्रतीत होते हैं।

उपयुक्त कहानी तो यद्यपि एक पौराणिक-गाथा-सी प्रतीत होती है, परन्तु उसे देखने से ज्ञात होता है कि भगवान के व्यापारों को ही यहाँ वृत्ति कहा गया है। यहाँ भगवान ने जो वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक व्यापार किये हैं, वही क्रमशः भारती, सात्वती तथा आरभटी वृत्तियाँ प्रतीत होती हैं। इनके अतिरिक्त उनके द्वारा किया गया केश-संयमन-रूप सौन्दर्याधान करने वाला व्यापार ही कैशिकी वृत्ति प्रतीत होती है। प्राचीन युग में संभवतः दो प्रतिपक्षियों की ललकार, पैतरोँ तथा प्रहारादि व्यापारों को देखकर बाद में लोगों को उनके अनुकरण करने की इच्छा हुई होगी। संभवतः इसी कारण नाट्यशास्त्र में वृत्तियों को नाट्य की माता कहा गया होगा।

कुछ लोग इन चारों वृत्तियों को चार विभिन्न जातियों से संबंधित मानते हैं। इनके अनुसार नाटक खेलने का व्यवसाय करने वाले भरतों में प्रचलित वृत्ति सात्वती, कास्वियन-तट पर रहने वाले कैशिक लोगों में प्रचलित वृत्ति कैशिकी तथा सिन्धु घाटी में रहने वाली आर्विटस जाति में प्रचलित वृत्ति आरभटी कही जाती रही होगी, परन्तु इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

रूपकों में नायकादि पात्रों के व्यापार का ही अनुकरण किया जाता है। यह व्यापार सामान्य रूपमें वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक-तीन प्रकार का होता है। इनमें से वाचिक व्यापार ही भारती वृत्ति, मानसिक व्यापार सात्वती वृत्ति तथा शारीरिक व्यापार आरभटी वृत्ति के नाम से कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के व्यापारों में सौन्दर्य अथवा सौष्ठव लाने वाला एक और भी व्यापार होता है, जिसे कैशिकी वृत्ति कहा जाता है। इसप्रकार भारती वृत्ति तो भारती अर्थात् वाणी का व्यापार है, तथा सात्वती वृत्ति सत्व का अर्थात् मानसिक व्यापार। ऋ गतो धातु से बनने वाले अर शब्द का अर्थ गतिशील, आलस्य-रहित अथवा उत्साह-युक्त होता है तथा भट का अर्थ बीर। अस्तु

अरभट अर्थात् गतिशील बीरों से संबंधित व्यापार ही आरभटी वृत्ति है। सिर में केश किसी प्रयोजन-विशेष के लिए न होकर, शरीर की शोभा बढ़ाने के ही हेतु होते हैं। अस्तु सौन्दर्य बढ़ाने वाले व्यापार को कौशिकी वृत्ति कहा जाता है। वृत्तियों के विषय में टिप्पणी करते हुये अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि की है, जो उचित ही प्रतीत होता है।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय से ज्ञात होता है, कि भरत द्वारा प्रयुक्त प्रथम अभिनय में केवल भारती, सात्वती तथा आरभटी वृत्ति का ही प्रयोग किया गया था, कौशिकी का नहीं। इसका कारण यह था कि उनके पास स्त्री पात्र तथा शृंगार-प्रसाधन नहीं थे। इन्हें ब्रह्मा से प्राप्त करके वे चारों वृत्तियों से युक्त अभिनय करने में समर्थ हुये थे। इसका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि नाट्य में जो माधुर्य तथा सौन्दर्य होता है, वह कौशिकी वृत्ति के द्वारा ही उत्पन्न होता है। माधुर्य तथा सौन्दर्य स्त्रियों में विशेष रूप से होता है। अस्तु कौशिकी व्यापार-हेतु स्त्री पात्र परमावश्यक है साथ ही विभिन्न प्रकार के शृंगार-प्रसाधन एवं नृत्य गीतादि भी उसके हेतु आवश्यक हैं। कारण कि इन सबके द्वारा ही नाट्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार कौशिकी वृत्ति का प्रयोग नाट्य को सुन्दर बनाने के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है।

नाट्यशास्त्र में दशरूपकों के प्रसंग में कहा गया है कि नाटक तथा प्रकरण में सभी वृत्तियाँ प्रयुक्त की जाती हैं। इसी प्रकार नाटिका में भी यद्यपि कौशिकी की प्रमुखता कही गई है, परन्तु उसमें भी चारों वृत्तियाँ प्रयुक्त हो सकती हैं। शेष आठ रूपक प्रायः कौशिकी से रहित कहे गये हैं। इन आठ में भी वीथी, प्रहसन, भाण, तथा अंक में केवल भारती की ही प्रधानता कही गई है।

रस के प्रसंग में वृत्तियों का विचार करते हुए नाट्यशास्त्र कहता है, कि शृंगार और हास्य रस के चित्रण में कौशिकी, वीर तथा अद्भुत के चित्रण में सात्वती, भयानक, वीभत्स, तथा रोद्र रस के चित्रण में आरभटी तथा कण और अद्भुत रस के चित्रण में भारती वृत्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए।

१. भारती वृत्ति

नाट्यशास्त्र में वाणी की प्रधानता वाली तथा संस्कृत-वाङ्मय से युक्त

उस वृत्ति को भारती कहा गया है, जिसका प्रयोग स्त्रियों द्वारा न होकर पुरुष पात्रों द्वारा ही किया जाता है। यहाँ इस वृत्ति के चार प्रकार बताये गये हैं। वे हैं १-प्ररोचना २-आमुख ३-वीथी ४-प्रहसन। इनमें से प्ररोचना तो पूर्वरंग के अंगों में से एक है, जिसमें रूपक तथा रूपककार की प्रशंसा करके प्रेक्षकों को नाट्य देखने हेतु आमंत्रित किया जाता है। आमुख भी पूर्वरंग का ही त्रिगत नामक अंग है, जिसमें सूत्रधार नटी तथा पारिपात्रिक के संलाप के साथ रूपक की प्रस्तावना की जाती है। वीथी तथा प्रहसन तो दश-रूपक के ही दो भेद हैं। इन चारों में केवल वाणी के ही व्यापार की प्रधानता होने के कारण, इन्हें भारती का भेद माना गया है।

२. सात्वती वृत्ति

सत्व तथा सुन्दर छन्दों से युक्त उस वृत्ति को यहाँ सात्वती कहा गया है, जिसमें शोक का अभाव तथा हर्ष का आधिक्य रहता है। इसका अभिनय वाणी तथा शारीरिक चेष्टाओं द्वारा किया जाता है। इसका प्रयोग वीर, अद्भुत तथा रौद्र रसों में विशेष रूप से होता है तथा कृष्ण एवं शृंगार में स्वल्प रूप में। इसमें उद्धत पुरुषों का बाहुल्य होता है, जो एक दूसरे का अतिक्रमण करने वाले होते हैं। नाट्यशास्त्र में उत्थापक, परिवर्तक, संलापक तथा संघात नाम वाले इसके भी चार भेद बताये गये हैं। जब संघर्ष करने की इच्छा वाला कोई पात्र चुनौती देकर कह उठता है कि 'ले मैं खड़ा हो रहा हूँ, अब अपनी ताकत दिखा' तो वहाँ उत्थापक माना जाता है। जहाँ पात्र चुनौती देने वाले कार्य को छोड़कर, किसी अन्य कार्य की ओर मुड़ जाता है, वहाँ परिवर्तक नामक व्यापार माना जाता है। दो प्रतिपक्षी पात्रों की गर्वपूर्ण उक्ति-प्रत्युक्ति को संलापक कहा जाता है। जहाँ किसी कार्य के हेतु संधि तोड़ दी जाती है अथवा प्रतिपक्षियों में फूट डाल दी जाती है, वहाँ संघात नामक व्यापार माना जाता है। इस प्रकार यह सात्वती वृत्ति चार प्रकार की मानी जाती है।

३. कैशिकी वृत्ति

जहाँ पर पात्रों द्वारा सुन्दर वेश-भूषा धारण की जाती है, स्त्रियों एवं नृत्य-गीतादि का बाहुल्य रहता है तथा आंगारिक चित्रण किया जाता है, वहाँ

कैशिकी वृत्ति मानी जाती है। नर्म, नर्मस्फुर्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ नामक इसके भी चार ही भेद माने जाते हैं। हास्यपूर्ण वचनों की बहुलता को ही नर्म कहा जाता है, जो शृंगार-मिश्रित हास्य, विबुद्ध हास्य तथा वीर रसातिरिक्त हास्य के भेद से तीन प्रकार का माना जाता है। जहाँ पर प्रेम की आरंभिक दशा में नायक-नायिका परस्पर को आकृष्ट करने वाले वचन बोलते तथा वेश-भूषादि धारण करते हैं, वहाँ नर्मस्फुर्ज नामक व्यापार माना जाता है, जिसका अन्त भय में होता है। जहाँ पर नायक-नायिकादि के विभिन्न भावों की थोड़ी-थोड़ी स्फूर्ति तो होती है, पर पूर्णरस की अभिव्यक्ति नहीं होती, वहाँ नर्मस्फोट माना जाता है। जहाँ पर नायक अपने कार्य की सिद्धि के हेतु प्रच्छन्न रूप से व्यवहार करता है, वहाँ नर्मगर्भ माना जाता है। इस प्रकार कैशिकी भी चार प्रकार की मानी जाती है।

४. आरभटी वृत्ति

जहाँ पर उद्धतरसों, कपटों तथा दम्भ-पूर्ण असत्य वचनों आदि का चित्रण होता है, वहाँ आरभटी वृत्ति मानी जाती है। इसके अन्दर माया, इन्द्र-जाल, शिल्प-रचित वस्तुओं की उच्छल-क्रुद्ध तथा विचित्र प्रकार के युद्धों आदि का प्रदर्शन होता है। इसके भी संक्षिप्तक, अवपात, वस्तुत्थापन तथा संकेत नामक चार भेद माने गये हैं। जहाँ पर कथानक को संक्षिप्त करके पुस्त अर्थात् शिल्प-निमित्त वस्तुओं का प्रयोग अधिक किया जाता है, वहाँ संक्षिप्तक व्यापार माना जाता है। जहाँ पर भय, हर्ष, शीघ्रतापूर्वक आने-जाने तथा भागने आदि का प्रदर्शन होता है, वहाँ अवपात नामक व्यापार माना जाता है। जहाँ भय तथा आश्रय देने आदि का प्रदर्शन तथा सभी रसों का समन्वय रहता है, वहाँ वस्तु-स्थापन माना जाता है। जहाँ पर उत्तेजना, कपट, युद्ध तथा प्रहारों आदि का प्रदर्शन होता है, वहाँ संकेत माना जाता है। इस प्रकार आरभटी वृत्ति भी चार ही प्रकार की मानी गई है।

स-प्रवृत्तियाँ

नाट्यशास्त्र में वृत्तियों के साथ ही प्रवृत्तियों की भी चर्चा की गई है। यहाँ विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित वेशभूषा, भाषा तथा आचार आदि से सम्बन्धित

प्रथाओं को ही प्रवृत्ति कहा गया है। इन प्रवृत्तियों का ज्ञान नाट्यकार तथा प्रयोक्ता दोनों के ही लिये आवश्यक प्रतीत होता है। रूपक के चरित्र जिस किसी प्रदेश-विशेष के होंगे, उनसे उसी प्रदेश की भाषा तथा वेशभूषा का प्रयोग कराया जाना चाहिए तथा उनका शेष व्यवहार भी उसी प्रदेश का-सा ही होना चाहिए। यदि किसी प्रदेश विशेष के चरित्र का अभिनय करने वाला पात्र उस प्रदेश की वेशभूषा आदि नहीं धारण करेगा, तो अभिनय में निश्चित ही स्वाभाविकता न आवेगी। काशी के पंडित का अभिनय करने वाला पात्र यदि भोपाली पाजामा पहनकर उर्दू बोलना आरंभ कर दें, तो इससे रूपककार तथा प्रयोक्ता का प्रवृत्ति सम्बन्धी अज्ञान ही प्रकट होगा। अस्तु नाट्यशास्त्र में प्रवृत्ति-ज्ञान की आवश्यकता पर उचित ही बल दिया गया है।

नाट्यशास्त्र में पूरे भारतवर्ष में चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ बताई गई हैं। वे हैं, दाक्षिणात्या, आवन्ती, ओड्रमागधी, तथा पाँचाली प्रवृत्तियाँ। महेन्द्र, भलय, सह्य, मेकल तथा कालपंजर नामक पर्वतों के आसपास के प्रदेश तथा कोशल, तोशल, कलिंग, मोशल द्रमिल, आन्ध्र महावैष्ण एवं वन-वास आदि प्रदेश, जो बिन्द्याचल तथा दक्षिण सागर के मध्य में स्थित हैं, उन्हें यहाँ दाक्षिणात्य प्रदेश कहा गया है। यहाँ के लोगों की प्रवृत्ति रूपकों में नृत्य, गीत तथा वाद्यों, कैशिकी वृत्ति एवं ललित-मधुर अभिनय करने की कही गई है। अवन्ती, विदिशा सौराष्ट्र, मालव, सिन्धु, सौवीर, आनर्त, अबुंद, दशार्ण, त्रिपुर तथा मृत्तिकावत नामक प्रदेशों में आवन्ती प्रवृत्ति का प्रचलन कहा गया है। इन प्रदेशों में सात्वती तथा कैशिकी वृत्ति का प्रचार अधिक बताया गया है। अंग, वंग, उत्कलिंग, वत्स, ओड्र, मगध, पुण्ड्र नेपाल, विदेह, ब्रह्मोत्तर, प्राग्व्योत्तिष, ताम्रलिप्त पुलिंद आदि पूर्वीय प्रदेशों में ओड्रमागधी प्रवृत्ति का प्रचलन बताया गया है। नाट्यशास्त्र में इनके अन्तर्गत भारती तथा कैशिकी वृत्ति के प्रयोग करने की प्रवृत्ति कही गई है। पांचाल, शूरसेन, कश्मीर, हस्तिनापुर, बाहलीक, मद्र, उशीनर तथा हिमालय से गंगा के उत्तरी किनारे तक के प्रदेशों में पांचाली प्रवृत्ति का प्रचलन बताया गया है। नाट्यशास्त्र इन प्रदेशों में सात्वती तथा आरभटी वृत्ति का प्रचार बताता है। साथ ही इनके अन्तर्गत होने वाले रूपकों में गीतों का प्रयोग कम तथा गतिशीलता का प्रयोग अधिक होता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार आवन्ती तथा दक्षिणात्या प्रवृत्ति के लोग तो दाहिनी ओर से रंगपीठ में प्रवेश करते हैं, और पाँचाली तथा ओड्रमागधी प्रवृत्ति वाले लोग बाईं ओर से। इसी प्रकार आवन्ती तथा दाक्षिणात्या प्रवृत्ति के लोग नाट्यगृह में उत्तर द्वार से प्रविष्ट होते हैं, तथा पाँचाली एवं ओड्रमागधी प्रवृत्ति वाले दक्षिण द्वार से। नाट्यशास्त्र कहता है कि उपर्युक्त प्रदेशों में उनकी प्रवृत्ति के ही अनुसार अभिनय किया जाना चाहिए। वह यह भी कहता है कि विशेष परिस्थितियों में देश, काल तथा परिषद आदि को ध्यान में रखकर, इन प्रवृत्तियों का मिश्रण भी किया जा सकता है। साथ ही विभिन्न स्थानों की प्रवृत्तियाँ तो विभिन्न तथा अनेक हो सकती हैं, जिनका उल्लेख करना कठिन है। अस्तु नाट्य में उनका उपयोग लोकानुभव के आधार पर किया जाना चाहिए।

ग—नाट्यधर्म

रूपकों के अभिनय में कतिपय रुढ़ियों का भी प्रयोग किया जाता है। जैसे यदि कोई पात्र अपने मुख के सामने हाथ करके किसी से कुछ कहता है, तो माना यहो जाता है कि उस पात्र की बात केवल उसका निकटवर्ती अमीष्ट पात्र ही सुन रहा है, यद्यपि वह बात जोर से कही जाती है तथा उसे समस्त प्रेक्षक भी सुनते हैं। यह एक प्रकार की नाट्य-रुढ़ि ही है। नाट्यशास्त्र इस प्रकार की अनेकों रुढ़ियों का विवरण देता है और कहता है कि यदि अभिनय में इनका प्रयोग अधिक होता है, तो उसे नाट्यधर्मी, अभिनय कहा जाता है। इसके अतिरिक्त यदि इनका प्रयोग कम होता है और अभिनय में लोक-प्रचलित यथार्थ बातों का ही प्रदर्शन होता है, तो उसे लोकधर्मी अभिनय कहा जाना चाहिए।

यदि विभिन्न पात्र एकत्र होकर किसी लिखे हुये रूपक को, बिना कोई सजावट तथा आंगिक अभिनय आदि किये ही पढ़ भर दें, तो वह साधारण अभिनय लोकधर्मी कहा जायगा। निश्चित ही इस प्रकार के अभिनय से प्रेक्षक को कोई आनन्द-विशेष नहीं आ सकता। इसके विपरीत यदि सजे हुये पात्रगण सुसज्जित रंगमंच पर नृत्य-गीतादि के साथ आंगिक एवं सात्विकादि अभिनय करते हुए, नाट्य-प्रदर्शन करते हैं, तो वह निश्चित ही आनन्ददायक होता है। अस्तु नाट्यशास्त्र कहता है :-

नाट्यधर्मी प्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत् ।

न ह्यङ्गाभिनयात् किञ्चित्ते रागः प्रवर्तते ॥ १४-७४

अर्थात् नाट्य का प्रयोग नाट्यधर्मी अभिनय के साथ ही किया जाना चाहिए, क्योंकि बिना आंगिक आदि अभिनय किये, प्रेक्षकों को आनन्द मिल ही नहीं सकता ।

नाट्यशास्त्र कहता है कि जिस अभिनय में पात्रों तथा मंच की साज-सज्जा, नृत्य, गीत, वाद्य, बनावटी पर्वत, यान तथा आयुधादि का प्रयोग किया जाता है, यह नाट्यधर्मी कहलाता है । इसी प्रकार पात्रों द्वारा साधारण रूप से न चलकर ललित-अंग विन्यास-पूर्वक चलना एवं साधारण रूप से न बोलकर हाव-भाव-पूर्वक बोलना आदि भी नाट्य-धर्मी अभिनय के ही अन्तर्गत आता है । इसी प्रकार जब कोई स्त्री पात्र किसी पुरुष-चरित्र का एवं पुरुष पात्र किसी स्त्री-चरित्र का अभिनय करता है, तो उसे भी नाट्यधर्मी ही कहा जायगा । विभिन्न अर्थों की सूचक शरीर-मुद्राएँ आदि भी नाट्यधर्मी अभिनय के ही अन्तर्गत आती हैं ।

नाट्यशास्त्र कक्षा-विभाजन अर्थात् मञ्च के स्थान-विभाजन को भी नाट्यधर्म के अन्तर्गत मानता है । उदाहरण के लिये मंच पर पहिले आने वाले पात्र, जिस स्थान पर स्थित होते हैं, उसे (घर का) भीतरी भाग तथा बाद में आकर स्थित होने वाले पात्रों का स्थान बाहरी भाग माना जाता है । इसी प्रकार नेपथ्यगृह के द्वार के सामने पड़ने वाली दिशा चाहे, कोई भी क्यों न हो, उसे माना पूर्व दिशा ही जाता है । इस प्रकार नाट्यशास्त्र अनेकों नाट्यधर्म बताकर उनके ज्ञान को प्रयोक्ता के लिये अत्यावश्यक बताता है ।

गीत, वाद्य तथा नृत्य

नाट्यशास्त्र में गीतों वाद्यों तथा नृत्तों का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है। यहाँ अट्ठाइसवें तथा बत्तीसवें अध्यायों में गीतों, अट्ठाइसवें से इकतीसवें तथा तीसवें अध्यायों में वाद्यों, एवं चौथे तथा बीसवें अध्याय में नृत्तों का वर्णन हुआ है।

१. गीत

नाट्यशास्त्र के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यद्यपि गीतों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से ही रहा है, तथापि उनका शास्त्रीय विवेचन संभवतः वाद्यों के विकास के उपरान्त आरम्भ हुआ है। क्योंकि नाट्यशास्त्र में सप्त स्वरों की उत्पत्ति मानवीय गले एवं श्रोत्र से बताई है^१। अस्तु स्पष्ट है कि गीतों के शास्त्रीय अध्ययन के आधारभूत स्वर का विवेचन श्रोत्र-वाद्य के विकास के उपरान्त ही हुआ है।

नाट्यशास्त्र में गीतों को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त तो लिखते हैं कि:—

प्राणभूत तावद् ध्रुवागानं प्रयोगस्य ।

अर्थात् गान नाट्य-प्रयोग का एक सामान्य अंग न होकर उसका प्राण ही है। यह बात ठीक भी प्रतीत होती है। गीत न केवल प्रेक्षकों को आकृष्ट एवं प्रसन्न ही करते हैं, बरन् वे रसानुभूति कराने में भी परमोपयोगी होते हैं। अतः नाट्यशास्त्र में उन्हें ठीक ही महत्त्व दिया गया है।

नाट्यशास्त्र के अष्टादशवें अध्याय में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम पंचम, दैवत, तथा निषाद इन सात स्वरों का वर्णन मिलता है। क्रमयुक्त होने पर इन्हीं सात स्वरों को यहाँ सात मूर्च्छनाएँ कहा गया है^१। इन्हीं मूर्च्छनाओं पर आधारित चौरासी तानों का यहाँ विस्तृत वर्णन मिलता है^२। इसके साथ ही यहाँ विभिन्न श्रुतियों, ग्रामों, जातियों तथा ध्वनि स्थानों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

ध्रुवागान

नाट्यशास्त्र में नाट्य के अन्दर ध्रुवा-गान को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इसका वर्णन पूरे बत्तीसवें अध्याय में मिलता है। ध्रुवा-वर्णन देखने से प्रतीत होता है कि इनका उपयोग परदे के पीछे के गानों (बैक प्राउन्ड म्यूजिक) के रूप में किया जाता रहा होगा। कारण कि इनके द्वारा आने वाले पात्रों और उनके कार्यों की सूचना मिल जाती है। यहाँ ध्रुवाओं में प्रयुक्त छन्दों, भाषाओं, लयों, तालों तथा विषय से भी विशेष प्रकार के संकेतों का मिलना बताया गया है। उदाहरणार्थ यदि अभिनय हेतु देवता तथा राजा आने वाला होता है, तो इन्द्र, अग्नि, सूर्य, तथा वायु से संबन्धित गीत गाया जाना चाहिए और दैत्य-राक्षस पात्रों के आगमनोपलक्ष में बादलों, पर्वतों एवं सागरों से संबंधित।

मोटे रूप में ध्रुवा गीतों के यहाँ पाँच प्रकार बताये गये हैं। उनके नाम हैं—१. प्रावेशिकी २. आर्क्षेपिकी ३. नैष्कर्मिकी ४. प्रासादिकी तथा ५. अन्तरा। पात्रों के प्रवेश के समय गाई जाने वाली ध्रुवा प्रावेशिकी तथा पात्रों के बाहर जाने के समय गाई जाने वाली ध्रुवा नैष्कर्मिकी कही गई है। अंतरा ध्रुवा-गीत वे गीत हैं, जो नाट्य के मध्य कोई व्यवधान पड़ने पर गाये जाते थे। प्रेक्षक लोग अभिनय देखते-देखते, जब किसी भाव विशेष में अत्यधिक आविष्ट हो जाते थे, तो उन्हें सामान्य स्थिति में लाने हेतु प्रासादिकी ध्रुवा का प्रयोग

१-क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्यभि सञ्जिताः ॥ २८-३३

२-मूर्च्छना संश्रितास्तानाः चतुरसीतिः ॥ २८-३४ के उपरान्त

किया जाना कहा गया है। इसके अतिरिक्त अभिनय में पराजय, मृत्यु, तथा आपत्ति आदि की घटनाओं के प्रदर्शन के समय आक्षेपिकी ध्रुवा का प्रयोग करने की बात कही गई है। इसके साथ ही नाट्यशास्त्र में ध्रुवा-संबन्धी अन्य अनेक बातों का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिन्हें वहीं देखा जाना चाहिए।

गान के गुण-दोष

नाट्यशास्त्र के बत्तीसवें अध्याय^१ में कहा गया है कि यदि गायक का स्वर, श्वाक, धन, स्निग्ध, मधुर तथा अवधानयुक्त होता है, तो उसका गान सुन्दर माना जाता है। दूर से भी स्वर के सुनाई देने की आवश्यकता, आवाज के फटी न होने की घनत्व, आवाज के कोमल होने की स्निग्धता, आवाज की मिठास की मधुरता तथा आवाज की आवश्यकता से अधिक न घटने न बढ़ने देने की ही अवधानता कहा गया है। अच्छे गायक के गान में ये पाँचों ही गुण विद्यमान रहते हैं।

नाट्यशास्त्र गाने की ध्वनि के पाँच दोषों का भी वर्णन करता है^२। इनके नाम हैं, कपिला, अव्यवस्थिता, सन्दष्टा, काकी तथा तुम्बकी। जब गले में कफ आदि होने से आवाज धरती हुई निकलती है, तो उसे कपिला, रूखी आवाज को अव्यवस्थिता, दातों से चबा-चबाकर निकाली जाने वाली आवाज को सन्दष्टा, कौवे की भाँति कर्कश आवाज को काकी, तथा नाक के योग से मिन-मिनाती हुई आवाज को तुम्बकी कहा गया है। अच्छे गायक को चाहिए, कि वह इन दोषों से बचकर गान गाये।

गान के प्रसंग में नाट्यशास्त्र कहता है कि इस कार्य-हेतु स्त्रियों को ही निमुक्त किया जाना चाहिए, क्योंकि उनका स्वर गान-हेतु अधिक उपयुक्त होता है^३। गान में नारी तथा पाठय में पुरुष का स्वर विशेष सफल होता है।

१—धोष ना. शा. ३२-५१४ से ५१८

२—वही ३२-५१६

३—वही ३२-५०३

२. वाद्य

नाट्यशास्त्र के अट्टाईसवें अध्याय में चार प्रकार के आतोद्यों अर्थात् वाद्यों का वर्णन हुआ है। वाद्य के इन प्रकारों के नाम हैं:- तत, अवनद्ध, सुषिर तथा घन। इसमें से तार वाले वीणा आदि वाद्यों को तत, चमड़े से बड़े हुये डोल आदि वाद्यों को अवनद्ध, अन्दर से पोते बाँसुरी आदि वाद्यों को सुषिर तथा ठोस धातु आदि से बने घण्टा आदि वाद्यों को घन कहा गया है।

नाट्य के अन्दर इन वाद्यों का त्रिविध प्रयोग कहा गया है। कभी-कभी तो केवल तत तथा सुषिर वाद्यों का ही प्रयोग किया जा सकता है, जिसे तत वाद्यों का कुतप अर्थात् वाद्य-वृन्द (आर्केष्ट्रा) कहते हैं। इसके अन्तर्गत विपंची, वीणा और बाँसुरी का प्रयोग होता है। कभी केवल अवनद्ध वाद्यों के कुतप का प्रयोग किया जा सकता है, जिसके अन्तर्गत मृदंग, प्रणव, तथा ददुर बजाने का विधान है। इसके अतिरिक्त अन्य अवसरों पर सभी प्रकार के वाद्यों का सम्मिलित कुतप भी प्रयुक्त किया जा सकता है। उक्त चारों प्रकार के वाद्यों में से यहाँ तत, सुषिर और अवनद्ध को ही प्रमुखता दी गई है।

तत वाद्य

इन वाद्यों में यहाँ वीणा और विपंची को विशेष महत्व दिया गया है। यहाँ सात तारों वाले तत वाद्य को वीणा तथा नौ तारों वाले को विपंची कहा गया है। यहाँ इनसे सम्बन्धित विभिन्न वर्णों, अलंकारों, धातुओं, वृत्तियों तथा जातियों आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

सुषिर वाद्य

सुषिर वाद्यों में बाँस से बनने वाली बाँसुरी एक प्रमुख वाद्य मानी गई है। इसका वर्णन नाट्यशास्त्र के उन्तीसवें अध्याय में हुआ है। नाट्यशास्त्र बाँसुरी के स्वर को वीणा द्वारा पूर्ण किये जाने की बात कहकर कहता है, कि गान में वस्तुतः वीणा, बाँसुरी तथा मानव के स्वरों का समन्वय ही विशेष सुन्दर होता है।

अवनद्ध वाद्य

नाट्यशास्त्र के इकतीसवें अध्याय में अवनद्ध अर्थात् मड़े हुए वाद्यों का वर्णन है। यहाँ इनकी उत्पत्ति की एक कथा भी दी हुई है। इसके अनुसार एक बार स्वाति मुनि कमलों के पत्तों के ऊपर वर्षा की बूंदों का पड़ना देख रहे थे। उन्हीं की ध्वनि से उन्हें मड़े हुए वाद्यों के निर्माण की कल्पना हुई। मड़े हुए वाद्यों में यहाँ मृदंग, पणव, ददुर, भेरी, पटह, दुन्दुभी तथा डिडिम आदि अनेक वाद्यों का वर्णन है, परन्तु इनमें से नाट्य की दृष्टि से प्रथम तीन ही प्रमुख माने गये हैं। इन्हें स्वतंत्र रूप से तथा गान के साथ भी बजाने का विवरण मिलता है। यहाँ इनके बजाने की अनेकों प्रकार की विधियों का वर्णन है। उदाहरणार्थ पात्रों के प्रवेश के समय उनकी गति के अनुसार ही मृदंगादि बजाने का वर्णन मिलता है। नाट्यशास्त्र में अवनद्ध वाद्य निर्मित करने की विधि भी वर्णित है। अवनद्ध वाद्य-बादन का यहाँ अत्यधिक महत्व बताया गया है। नाट्यशास्त्र कहता है कि यदि मृदंगादि अवनद्ध वाद्य तथा गीत ठीक से बजाये-गाये गये, तो नाट्य को सफलता ही प्राप्त होती है।

३. नृत्त

नाट्य, नृत्त तथा नृत्य इन तीनों में एक विकास परम्परा प्रतीत होती है। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय के वर्णन से प्रतीत होता है कि पहिले नाट्य के अन्दर नृत्त का प्रयोग नहीं होता था, जब शिवजी के आदेश से तन्हु ने भरत को ताण्डव नृत्त की शिक्षा प्रदान की, तो उसे भी नाट्य में सम्मिलित कर लिया गया। नाट्यशास्त्र में ताण्डव के अतिरिक्त लास्य नामक नृत्त का भी वर्णन मिलता है, परन्तु नृत्य का वर्णन प्रायः नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है, कि उस समय तक नृत्त तथा नृत्य को अलग-अलग नहीं माना गया था। कारण कि यहाँ वर्णित लास्य के कई प्रकार भावाश्रित भी प्रतीत होते हैं, जिन्हें परवर्ती मान्यता के अनुसार नृत्य कहा जा सकता है।

यद्यपि नृत्त को नाट्य से भिन्न ही माना गया है, तथापि नाट्य में सहायक होने के कारण, यहाँ उसका वर्णन किया गया है। नाट्यशास्त्र में ताण्डव नृत्त के सम्बन्ध में ऋषियों ने यह शंका उठाई है कि:—

न गीतार्थकसम्बद्धं न वाच्यार्थस्य भावकम् ।

कस्मान्नृत्तं कृतं ह्येतद् गीतेष्वसाधारितेषु च ॥ ४-२६७

अर्थात् जब कि यह नृत्त न तो गीत के अर्थ से ही सम्बन्धित रहता है और न भाव से ही, तो फिर गीत के साथ इसका प्रयोग क्यों किया जाता है ? इसके उत्तर में कहा गया है:—

अत्रोच्यते न खल्वर्थं कंचित् नृत्तमपेक्षते ।
 किन्तु शोभां जनयतीत्यतो नृत्तं प्रवर्तितम् ॥ ४-२६८
 प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः ।
 मंगल्यमिति कृत्वा च नृत्तमेतत् प्रकीर्तितम् ॥ ४-२६९
 विवाह प्रसवावाह प्रमोदाभ्युदयादिषु ।
 विनोदकरणचैव नृत्तमेतत् प्रकीर्तितम् ॥ ४-२७०

अर्थात् नृत्त के शोभाजनक होने, लोक को इष्ट लगने, मंगलमय होने तथा विनोदकारी होने के कारण ही यहाँ उसको ग्रहण किया गया है, भले ही वह किसी भी अर्थ को व्यक्त करने वाला न हो ।

ताण्डव तथा लास्य

नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत ताण्डव नृत्त का विस्तृत वर्णन चतुर्थ अध्याय में तथा लास्य का वर्णन बीसवें एवं इकतीसवें अध्यायों में हुआ है । इनमें से तण्डु मुनि के द्वारा उपदिष्ट पुरुष-प्रयोज्य उद्धृत नृत्त को ताण्डव कहा गया है । यहाँ उसकी अनेक मुद्राओं आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है । लास्य की परिभाषा करते हुए नाट्यशास्त्र कहता है:—

लसनाल्लास्यमित्युक्तं स्त्रीपुंभावसमाश्रयम् ।
 एकार्थं पृथगर्थं च तदंगैस्तु प्रकीर्तितम् ॥
 भाणवच्चैकहार्थं स्वाद्गृह्यवस्तु तथा भवेत् ॥ ३१-४२८

अर्थात् विलसित होने, यानी सुन्दर लगने के कारण ही लास्य को लास्य कहा जाता है । यह स्त्री-पुरुष के आकर्षण से युक्त अर्थात् शृङ्गार-परक होता है । भाण के समान ही इसकी कथावस्तु कल्पित होती है तथा इसका प्रयोग एक ही पात्र द्वारा किया जाता है । नाट्यशास्त्र लास्य के बारह भंग अथवा प्रकार बताता है । लास्य के अंतर्गत एक बार में इन बारह अंगों के लिये वर्णित विषयों

में से किसी एक अथवा अनेक का प्रयोग किया जा सकता है। सास्य के बारह अंग अथवा प्रकार अधोलिखित हैं:-

१. रोयपद, २. स्थितपाठ्य, ३. आसोन, ४. पुण्य-गण्डिका, ५. प्रच्छेदक, ६. त्रिमूढक, ७. सैन्धव, ८. द्विमूढक, ९. उत्तमोत्तमक, १०. विचित्रपद, ११. उक्त प्रत्युक्त तथा १२. भावित।

सास्य नृत्त के उक्त समस्त प्रकार नारी-प्रयोज्य ही माने गये हैं। इनमें से किसी प्रकार में तो नर्तकी बैठे-बैठे ही गायी हुई नृत्त करती है तथा किसी में खड़े होकर, इत्यादि। नाट्यशास्त्र के इकतीसवें अध्याय में वर्णित सास्य पर विचार व्यक्त करते हुए, अभिनव भारती-कार लिखते हैं कि नाट्य को उद्धत तथा सुकुमार दो प्रकार का कहा गया है। इनमें से उद्धत नाट्य के पूर्वरंग के अन्तर्गत तो साण्डव नृत्त का प्रयोग किया जाना चाहिए तथा सुकुमार नाट्य के पूर्वरंग के अन्तर्गत सास्य नृत्त का। इस प्रकार सास्य सुकुमार बीवी का नारी-प्रयोज्य नृत्त सिद्ध होता है।

गीत, वाद्य तथा नृत्त का उचित प्रयोग

नाट्यशास्त्र में गीत-नृत्यादि के प्रयोग के सम्बन्ध में कहा गया है कि:-

गीते वाद्ये च नृत्ते प्रवृत्तेऽति प्रसंगतः।

सेवो भवेत् प्रयोक्तृणां प्रेक्षकानां तथैव च ॥

स्निग्धानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते।

ततः शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत् ॥ ५-१६४, १६५

अर्थात् नाट्य के अन्दर यदि गीतों, वाद्यों तथा नृत्तों का अत्यधिक प्रयोग कर दिया जाता है, तो पात्र तथा प्रेक्षक दोनों ही थक जाते हैं। थके हुये लोग नाट्य के रसों और भावों का आनन्द लेने में असमर्थ हो जाते हैं। अस्तु इससे नाट्य का शेष प्रयोग फीका पड़ जाता है। अतः नाट्य में गीत, वाद्य तथा नृत्य का समुचित तथा सीमित प्रयोग ही किया जाना चाहिए।

त्रयोदश परिच्छेद

नाट्य की सफलता तथा विफलता

नाट्यशास्त्र के सत्ताइसवें अध्याय का नाम 'सिद्धि-व्यञ्जक अध्याय' है। इसके अन्तर्गत नाट्य की सफलताओं तथा विफलताओं का विस्तृत विवेचन हुआ है।

यहाँ पर नाट्य की द्विविध सफलताओं का वर्णन मिलता है। एक है, देवी-सिद्धि और दूसरी मानुषी-सिद्धि। जिस नाट्य में सत्त्व की प्रधानता होती है तथा भावों का अभिनय अत्यधिक किया जाता है, उसे यहाँ देवी-सिद्धि-युक्त माना गया है। अर्थात् उपर्युक्त विशेषताओं के होने पर नाट्य दिव्य सफलता से युक्त माना जाना चाहिए। साथ ही जब कोलाहल, अपशकुन तथा विघ्नादि नहीं होते तथा दर्शक-कक्ष खचाखच भरा रहता है, तो भी नाट्य को देवी सफलता-युक्त माना जाना चाहिए।

मानुषी-सिद्धि यहाँ दस प्रकार की मानी गई है। इन दस में से कुछ तो वाणी से सम्बन्धित है तथा कुछ शरीर से। इनमें वाणी से सम्बन्धित सिद्धियों के अन्तर्गत, स्मित, अर्धहास, अतिहास, साधुवाद, अहोवाद, कष्टवाद तथा प्रबुद्ध-नाद की गणना की गई है तथा शरीर से सम्बन्धित सिद्धियों के अन्तर्गत हर्ष से रोमांचित होने, उठ खड़े होने एवं वस्त्र तथा औंठूठी आदि प्रदान करने की।

इन मानुषी सिद्धियों का स्पष्टीकरण नाट्यशास्त्र में अधोलिखित ढंग से किया गया है :—

१—जब नाट्य के पात्र श्लेष-युक्त पदों के द्वारा हास्य रस का अभिनय करें, जिससे कि प्रेक्षक मुस्कराने लगें, तो इसे नाट्य की स्मित नामक सफलता समझना चाहिए।

२—जब पात्र कुछ अस्पष्ट हास्य अथवा हास्यात्मक वचनों का प्रयोग करें, जिससे प्रेक्षक अर्धहास्य कर उठें, तो इसे अर्धहास नामक सफलता समझना चाहिए ।

३—जब विदूषक अथवा किसी शिल्पादि के द्वारा हंसी का प्रसंग उपस्थित होने पर प्रेक्षक जोरों से हँस पड़े, तो इसे अतिहास नामक सफलता समझना चाहिए ।

४—धर्म एवं श्रेष्ठता से युक्त अभिनय को देखकर यदि प्रेक्षक 'साधु-साधु' कह उठें, तो इसे साधुवाद नामक सफलता समझना चाहिए ।

५—अत्यधिक हर्ष एवं विस्मय से युक्त अभिनय को देखकर यदि प्रेक्षक 'अहो ! अहो ! ' कहें, तो इसे अहोवाद नामक सफलता समझना चाहिए ।

६—काव्यिक प्रसंग का अभिनय होने पर यदि प्रेक्षक आँखों में आँसू भरकर 'कण्ट ! कण्ट !' कह उठें, तो इसे कण्ट-वाद नामक सफलता समझना चाहिए ।

७—अद्भुत अभिनय के प्रसंग में यदि प्रेक्षक हर्षपूर्वक जोर से निनाद कर उठें, तो इसे प्रवृद्धनाद नामक सफलता समझना चाहिए ।

८—कौतूहलमय आनन्दपूर्ण अभिनय के होने पर यदि प्रेक्षकों को रोमांच हो उठे, तो इसे भी नाट्य की शरीर सम्बन्धी सफलता समझना चाहिए ।

९—युद्धादि अथवा किसी भयानक घटना का अभिनय होने पर यदि प्रेक्षक अपने सिर आदि हिलाकर आँखों में आँसू भरलें अथवा अपने स्थान से उठ खड़े हों, तो इसे भी नाट्य की शरीर सम्बन्धी सफलता समझना चाहिए ।

१०—सामाजिक लोग जब पात्रों को वस्त्र तथा अँगूठी आदि प्रदान करने लगे, तो इसे भी नाट्य की शरीर सम्बन्धी सफलता कहा गया है । प्रेक्षकों द्वारा वस्त्र अथवा अँगूठी किन स्थितियों में प्रदान किये जाने पर, नाट्य की सफलता समझी जाती चाहिए, इसका विवरण नाट्यशास्त्र में स्पष्ट नहीं है, परन्तु अभिनय से प्रसन्न होने पर, जैसे आजकल पात्रों को पदक देने की प्रथा है, संभवतः इसी भाँति अँगूठी अथवा वस्त्र भी दिये जाते रहे होंगे; तथा ऐसा होने पर नाट्य को सफल माना जाता रहा होगा ।

उपर्युक्त दैवी तथा मानुषी सफलताओं में से दैवी सफलताएँ संभवतः दिव्य अर्थात् सुसंस्कृत एवं विश्व प्रेक्षकों से सम्बन्धित रही होंगी, क्योंकि ऐसे ही प्रेक्षक सत्व एवं भावों के गंभीर एवं सफल अभिनय की अनुभूति कर सकते हैं। इसके विपरीत मानुषी सफलताएँ संभवतः सामान्य प्रेक्षकों से सम्बन्धित प्रतीत होती हैं। सफलताओं के इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि नाट्यशास्त्र, नाट्य की सफलता-विफलता इसी से लक्षित करता है कि उसके द्वारा प्रेक्षकों पर कैसा प्रभाव पड़ा। यदि प्रेक्षकों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है, तभी कोई नाट्य श्रेष्ठ कहा जा सकता है। इस भाँति नाट्यशास्त्र ने नाट्य के प्रयोग की सफलता-विफलता के विषय में शास्त्रादि से अधिक लोक को ही प्रमाण माना है।

सफलताओं के साथ ही नाट्यशास्त्र में नाट्य के चार प्रकार के दोषों अथवा विफलताओं का भी वर्णन 'नाट्यघात' नाम से हुआ है। ये चारों घात हैं:— १-देवताओं द्वारा किये गये विघ्न २-स्वयं पात्रों द्वारा की गई त्रुटियाँ ३-द्वेषियों द्वारा किए गए उपद्रव तथा ४-उत्पात आदि। नाट्य के समय तूफान आ जाना, आग लग जाना, वर्षा होने लगना एवं हाथी अथवा सर्प से भय उत्पन्न होना आदि दैविक घात अर्थात् देवताओं द्वारा किए गए विघ्न माने गये हैं। चिल्लाना, आवाजें कसना, जोर से ताली पीटना, मंच पर गोबर, डेले, घास तथा पत्थर फेंकना आदि पर-समुत्पन्न अर्थात् द्वेषियों द्वारा किये जाने वाले उपद्रव हैं। स्मरणीय है कि इस प्रकार के उपद्रव नाट्यशास्त्र से, दो सहस्र से भी अधिक वर्षों के उपरान्त आज भी किये जाते हैं। भूकम्प तथा उल्कापात आदि को नाट्यशास्त्र औत्पातिक घात अर्थात् उत्पात-जन्य विघ्न कहता है। स्वयं पात्रों द्वारा की गई त्रुटियों को नाट्यशास्त्र में आत्म-समुत्पन्न घात कहा गया है। इनका वर्णन यहाँ विस्तार से हुआ है। उदाहरणार्थ अभिनय में अस्वाभाविकता, अशुद्ध गतिप्रचार, पाठ-विस्मृति, अशुद्ध पाठ बोलना, अत्यधिक हँसना-रोना तथा मुकुट गिरा देना आदि अनेक त्रुटियाँ पात्रों से हो जाती हैं तथा इनसे नाट्य की क्षति पहुँचती है। पात्रों द्वारा की जाने वाली समस्त त्रुटियों में उनके द्वारा डर-डर कर बोला जाना तथा वादकों द्वारा ताल-भ्रष्ट वाद्य बजाया जाना सबसे बड़ी त्रुटियाँ हैं।

इस प्रकार दोषों का विस्तृत वर्णन कर चुकने के उपरान्त नाट्यशास्त्र

कहता है कि संसार में न तो कोई वस्तु पूर्णतः गुण-हीन ही होती है और न पूर्णतः दोष-रहित ही। अतः नाट्य के छोटे-मोटे दोषों पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए, पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं समझा जाना चाहिए कि पात्र लोग दोषों की चिन्ता ही करनी छोड़ दें।

प्रेक्षक

नाट्यशास्त्र नाट्य की सफलता-विफलता का प्रमुख प्रमाण लोक को ही मानता है, परन्तु अत्यन्त सामान्य कोटि के अगुणस व्यक्ति के लिये नाट्य के सूक्ष्म अभिनय का समझना कठिन ही प्रतीत होता है। अतः नाट्यशास्त्र प्रेक्षकों की भी विशेषताओं, का निर्देश करता है। प्रेक्षक को चरित्रवान, कुलीन, शान्त, अध्ययन-शील, धर्म-कीर्तिकामी, निष्पक्ष, प्रौढ़, नाट्यांशों का ज्ञाता, दक्ष, ईमानदार, निष्काम, वाद्य-कुशल, मेधमय, धार्मिक, देशभाषा, शिल्प, कला, अभिनय, रस, भाव, छन्द एवं शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिये। उसे अव्यग्र, शुद्धतायुक्त, ऊहा-पोह-विशारद, दोष-हीन, अनुरागी तथा कष्टना आदि भावों की अनुभूति कर सकने वाला होना चाहिए।

यद्यपि नाट्यशास्त्र प्रेक्षकों के लिये उपयुक्त विशेषताएँ निर्धारित करता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह इससे रहित सामान्य-जनों को नाट्य-प्रेक्षण से बहिष्कृत करता है। नाट्यशास्त्र स्वयं कहता है कि किसी भी एक व्यक्ति में इन समस्त गुणों की स्थिति प्रायः असंभव ही है। प्रेक्षकों में तो उत्तम, मध्यम, अधम तथा बालक, वृद्ध एवं स्त्रियाँ-सभी प्रकार के लोग होते हैं। अस्तु भले ही इनमें उपयुक्त समस्त गुण न भी हों, परन्तु इनमें से प्रत्येक किसी न किसी नाट्यांश का अनुभव तो कर ही सकता है। अस्तु ये सभी प्रेक्षक ही माने जाने चाहिए।

प्राश्निक

यदि कभी अभिनय की सफलता-विफलता के ऊपर प्रेक्षकों में मतभेद उत्पन्न हो जाय, तो उसके लिये नाट्यशास्त्र में दस प्रश्निकों अथवा निर्णायकों का विधान किया गया है। ये दस निर्णायक हैं :-

१-यज्ञवेत्ता, २-नर्तक, ३-छन्दशास्त्री ४-भाषाशास्त्री ५-राजा ६-धनुर्धर ७-चित्रकार ८-वेष्टा ९-मन्धर्व तथा १०-राज-सेवक। अपने-अपने विषय से संबंधित अभिनय के बारे में इनके द्वारा दिये गये निर्णय मान्य समझे जाने चाहिए। ये दसों निर्णायक केवल अशास्त्रज्ञ प्रेक्षकों के ही विवाद को सुलझाने हेतु हैं। शास्त्रज्ञ प्रेक्षकों के विवाद तो शास्त्र-ग्रन्थों के प्रमाण से ही सुलझाए जाने चाहिए।

स्पर्धा

नाट्यशास्त्र में अभिनेताओं की स्पर्धा (Contest) का भी वर्णन मिलता है, ये स्पर्धाएँ राजा की आज्ञा से अथवा धन एवं पताका की प्राप्ति हेतु हुआ करती थीं। जैसे आजकल विजेता को सम्मानार्थ शील्ड प्रदान करने की प्रथा है; संभवतः पताका भी ऐसे ही दी जाती रही होगी। नाट्यशास्त्र के अनुसार ऐसी स्पर्धाओं में निर्णायकों को मंच से लगभग १२ हाथ की दूरी पर बैठकर गणकों अथवा लेखकों की सहायता से नाट्य की सफलताएँ और विफलताएँ अंकित करनी चाहिए। निर्णायकों को दैवी, शत्रु-सम्बन्धी तथा उत्पातजन्य दोषों की गणना तो नहीं करनी चाहिए, परन्तु नाट्य-रचना सम्बन्धी एवं पात्रों द्वारा की गई त्रुटियों को अंकित करना चाहिए। अन्त में सफलताधिक्य के अनुसार राजा की अनुमति से विजेता को पताका प्रदान की जानी चाहिए।

नाट्यकाल

नाट्य की सफलता उसके उपयुक्त अवसर पर प्रदर्शित किये जाने पर भी निर्भर करती है। अतः नाट्यशास्त्र विभिन्न प्रकार के नाट्यों के प्रदर्शन के लिये उपयुक्त समय का भी विधान करता है। श्रवण-सुखद एवं धर्माध्ययन से सम्बन्धित नाट्य का प्रदर्शन पूर्वान्ह में किया जाना चाहिए। जिस नाट्य में वाद्यों का प्रचुर-प्रयोग हो तथा जिसका कथानक शौर्य-वीर्य से सम्बन्धित हो, उसका प्रदर्शन अपरान्ह में किया जाना चाहिए। गीत-वाद्य से युक्त कंश्चिकी वृत्ति वाले शृंगारिक नाट्य का प्रदर्शन सायंकाल होना चाहिए। इसके अतिरिक्त हास्य तथा करुणा से युक्त नाट्य का प्रदर्शन प्रभात बेला में होना चाहिए। मध्याह्न, मध्यरात्रि, सन्धिकाल तथा भोजनवेला में प्रायः नाट्य-प्रदर्शन नहीं

करना चाहिए, परन्तु विशेष परिस्थितियों में इन कालों में भी प्रदर्शन किया जा सकता है ।

सफलता का आधार

नाट्य की सफलता प्रमुख रूप से पात्रों, प्रयोग तथा समृद्धि पर आधारित रहती है । अस्तु नाट्य की सफलता के लिए उसमें ऐसे ही पात्र रखे जाने चाहिए, जो बुद्धिबल एवं सौन्दर्य से युक्त, लय, ताल, रस तथा भाव के ज्ञाता, अनुरूप वय वाले, कुतूहल-युक्त, कला-ज्ञान के ग्रहण तथा धारण में समर्थ, नृत्य, गीत में दक्ष, साहसी तथा उत्साही हों । नाट्य का प्रयोग भी ऐसा होना चाहिए, जिसमें नृत्य, गीत तथा वाद्य सुन्दर रूप में प्रस्तुत किये जाय तथा अभिनय में सामन्वय हो । इसी भाँति पात्रों को आभूषणों, वस्त्रों, मालाओं तथा अंगरचना आदि से विभूषित किया जाना चाहिए । इसे ही समृद्धि कहा जाता है । जिस नाट्य में इन समस्त तत्वों का सौन्दर्य एकत्रीभूत हो जाता है, वह निश्चित ही एक सफल नाट्य बन जाता है ।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में हुए नाट्य-सफलता आदि के विवेचन से प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में समालोचना का भी पर्याप्त विकास हो चुका था । अनेकों भिन्न-भिन्न दृष्टि कोणों से नाट्य का निष्पक्ष परीक्षण करने तथा उस पर निष्पक्ष निर्णय देने के सम्बन्ध में यहाँ किए जाने वाले विस्तृत विवेचन से नाट्यशास्त्र के रचयिता का प्रायोगिक समालोचना से पूर्ण परिचित होना सिद्ध होता है । भले ही इस समालोचना का रूप उसके आजकल के रूप से भिन्न रहा हो । वेद यही है, कि परवर्ती नाट्यशास्त्री, जिनके ऊपर इन सिद्धान्तों को विकसित करने का दायित्व था, वे प्रायः वैसा नहीं कर पाए । इस सन्दर्भ में एक बात और उल्लेखनीय है । वह यह कि शास्त्रीय महत्व वाले प्राचीन युग में भी नाट्यशास्त्र ने नाट्य-समालोचना की कसौटी शास्त्रों को न मानकर प्रेक्षक अबवा लोक को ही माना है । उसका यह लौकिक अथवा मानवीय दृष्टिकोण निश्चित ही सराहनीय है ।

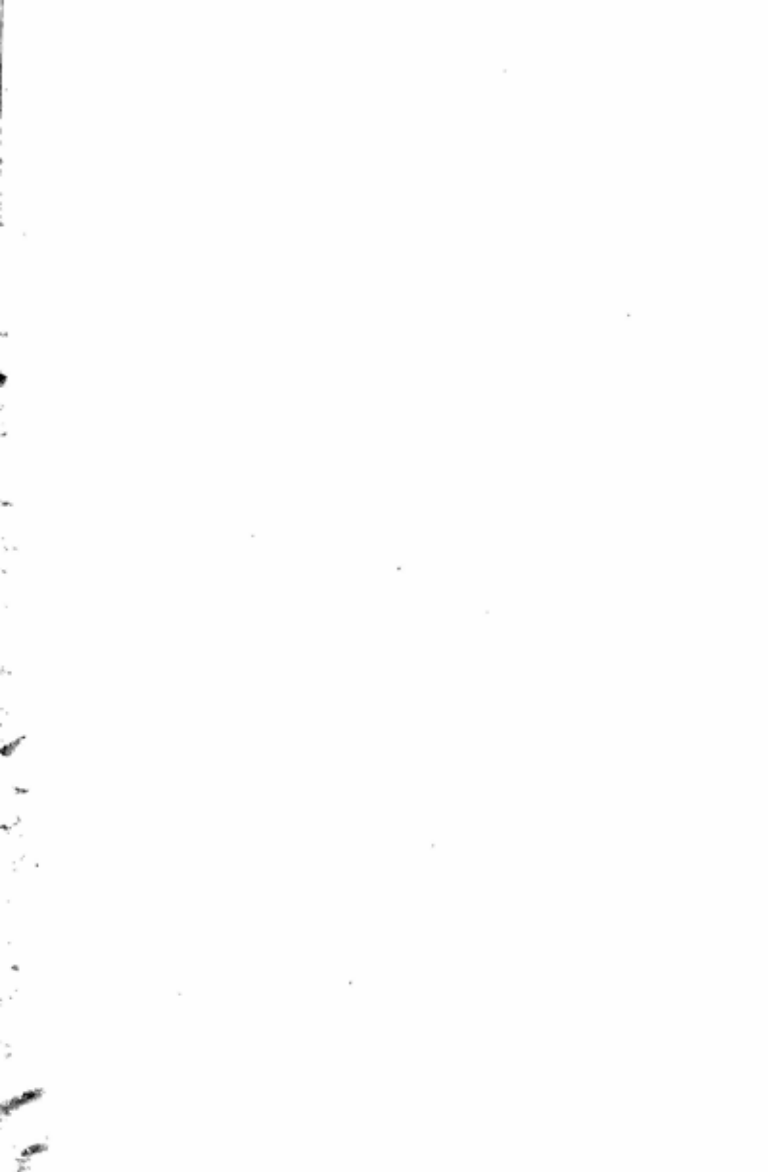
प्रस्तुत ग्रंथ की रचना में उपयोग में लाये गये

प्रमुख ग्रन्थों का विवरण

- १-अभिनव नाट्यशास्त्र-पं. सीताराम चतुर्वेदी, किताब-महल, इलाहाबाद सं. २०२१ वि.
- २-इण्ट्रोडक्शन टु भरताज नाट्यशास्त्र-श्री आखरंगाचार्य, पापुलर प्रकाशन, बम्बई १९६६ ई.
- ३-एन्शण्ट इण्डियन थिएटर-श्री डी. आर. मनकद, चरोतर बुक-स्टाल, आनन्द, १९६० ई.
- ४-नाट्यशास्त्र (मूल, अध्याय १ से २७) संपादक-श्री मनमोहन घोष, मनीषा ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९६७ ई.
- ५-नाट्यशास्त्र (अध्याय १ से २७ का अंग्रेजी अनुवाद) श्री मनमोहन घोष, मनीषा ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९६७ ई.
- ६-नाट्यशास्त्र (अध्याय २८ से ३६ का अंग्रेजी अनुवाद) श्री मनमोहन घोष, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १९६१ ई.
- ७-नाट्यशास्त्रम् भाग ४ (अध्याय २८ से ३६ का मूल तथा अभिनव-भारती) संपादक-श्री रामकृष्ण कवि, ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बङ्गोदा, १९६४ ई०
- ८-भरत का नाट्यशास्त्र (अध्याय १ से ७ का मूल तथा हिन्दी अनुवाद) डा. रघुवंश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४ ई०
- ९-भरतका संगीत सिद्धान्त-श्री कैलाशचन्द्र बृहस्पति, सूचना विभाग, उ० प्र० लखनऊ, १९५९ ई०
- १०-भारतीय नाट्यशास्त्र की परंपरा और दशरूपक-डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६३ ई०
- ११-भारतीय नाट्यपरंपरा और अभिनय-दर्पण-श्री वाचस्पति गैरोला, संवर्तिका प्रकाशन, प्रयाग, १९६७ ई०
- १२-भारतीय साहित्य-शास्त्र-पं० बलदेव उपाध्याय, नन्दकिशोर एन्ड सन्स, वाराणसी, १९६३ ई०
- १३-भास-नाटक-धृक्, भाग १ तथा २, चौलम्भा प्रकाशन, वाराणसी

- १४-संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (मूल लेखक-श्री पी. वी. काणे) हिन्दी-
अनुवादक डा० इन्द्रबन्धु, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६६ ई०
- १५-संस्कृत साहित्य का इतिहास-श्री कन्हैयालाल पोद्दार, नागरी प्रचारिणी
सभा काशी सं० २०१६ वि०
- १६-संस्कृत नाटक (मूल लेखक-श्री कीर्ति) हिन्दी अनुवादक-श्री उदयभानुसिंह,
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५ ई०
- १७-हिन्दी अभिनव-भारती (अध्याय १, २, तथा ६) आचार्य विष्णुदेव, हिन्दी
विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६० ई०





24/2/15
Biography - Bharat - Natya Sashtra
Bharat - Natya Sashtra - Biography
Natya Sashtra - Bharat

Archaeological Library,

53761

Call No. 927.820 70957/sha

Author— Shaiva Shri -
Sayan

Title— Acharya Bhavata

Date of Issue

Date of Return

GOVT. OF INDIA

Department of Archaeology

NEW DELHI

Please do not write on this book
and its cover